Digitized by eGangotri

Jaya Dole

जय-दोल

'अज्ञेय'

Agyea

Sh. Ghulam Mohamad & Sons.
Book-Sellers, Publishers & Stationers
Govt., Order Suppliers,
Maisuma Bazar, SRINAGAR KASHMIR.

Bhartiya Gyanpith Kashi

• भारतीय ज्ञानपीठ, काशी •

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

ज्ञानपीठ लोकोदय ग्रन्थमाला : हिन्दी ग्रन्थाङ्क–३२
सम्पादक-नियामक : लक्ष्मीचन्द्र जैन

Acc. No. 24184
Cost Rs. 3.00
Date 30.12.64

H83
A25J

JAYA–DOLE
(Collection of Stories)
by
'AJNYEYA'
Published by
Bhartiya Jnanpeeth Kashi

प्रकाशक
भारतीय ज्ञानपीठ काशी
मुद्रक
सन्मति मुद्रणालय
दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी
तृतीय संस्करण १९६२
मूल्य ३.००

3/- 1962.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

भूमिका

प्रस्तुत संग्रहकी कई कहानियाँ बिलकुल नयी हैं; कुछ पहले पत्रिकाओंमें प्रकाशित हो चुकी हैं और एक कहानी पहले संग्रहमें आ चुकी है। उसे यहाँ संकलित करनेका कारण यह है कि अब वह पहले संग्रहसे निकाल दी जायेगी। इस कहानीका नाम बदल दिया गया है; अब जो नाम है यही आरम्भमें रखा गया था और उपयुक्त भी है किन्तु अंग्रेज़ीसे बचनेके लिए छोड़ दिया गया था।

कहानियोंके बारेमें लेखकका वक्तव्य क्या हो सकता है? उपन्यासके बारेमें तो फिर भी कुछ कहनेकी गुंजाइश होती है, क्योंकि उसमें जीवनका एक दर्शन होता है। कहानियोंके सत्यमें उतनी व्याप्ति नहीं होती; वह एक क्षणका, एक मनःस्थितिका सत्य है—एक दौड़ती लहरका गति-चित्र। वह गति-चित्र आपको दीख जाये और देखनेमें आपका मन भी थोड़ी देरके लिए उलझा जाये, तो लेखकको और कुछ नहीं चाहिए।

यों कुल मिलाकर, जीवनके बारेमें मेरे कुछ विचार अवश्य हैं, और मैं यह भी चाहता हूँ कि वे आपको रुचें, क्योंकि जीवनसे, जीनेकी भावनासे, मुझे प्रेम है, और मैं चाहता हूँ कि वह प्रेम आपका अनुमोदन और सम्मान पाये।

शारदीया, १९५० — 'अज्ञेय'

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

दूसरे संस्करणकी भूमिका

इस नये संस्करणमें एक नयी कहानी जोड़ दी गयी है। कहानियोंका आपसमें कोई सम्बन्ध नहीं होता; पर यह कहानी भी उसी देश-कालकी अनुभूतियोंका फल थी जिसकी संग्रहकी अन्य कहानियाँ, अतः इसका यहीं आना उचित जान पड़ा।

जीवनके प्रति मेरा सम्मान दिन-दिन बढ़ा ही है। लेकिन जीवनके प्रति अनेक आयाम सम्पन्न उसके भरे-पूरेपनके प्रति, उसके सुखाये हुए ठट्ठरके प्रति नहीं। पुआलकी जुगाली करते हुए हरे खेतको रौंदनेकी कल्पनासे तृप्ति पा लेना मुझे नहीं भाया, न आया ही।

शारदीया, १९५७ —**लेखक**

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

यह साक्षी हो कि
पठारके तीतरोंको
नाम पुकारते
मैंने भी सुना है

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

क्रम-सूची

पठारका धीरज	११
साँप	२१
आदमकी डायरी	२७
वसन्त	४१
हीली-बोनूकी बत्तखें	५०
वे दूसरे	६१
कवि-प्रिया	७४
नगा पर्वतकी एक घटना	८७
गैंग्रीन	१०४
नीली हँसी	११८
मेजर चौधरीकी वापसी	१२९
जय-दोल	१४१

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

पठारका धीरज

ऊँचे-नीचे टीले, खँडहर, मटमैली-भूरी हरियाली; धुँधले छोटे झोंप, अँधेरी खोहें; बिखरे हुए पत्थर, कुछ गोल, कुछ चपटे, कुछ उभरे, चुभन-से तीखे; दूरपर चपटी लम्बी इमारतकी बत्तियाँ, मानो रेलगाड़ी खड़ी हो।

ये सब यथार्थ हैं।

फिर पठारका धीरज-भरा फैलाव, दुराव-भरा सन्नाटा, झनझनाती तेज़ हवा, चपटे पत्थरोंपर मीनेके-से हरे-चिट्टे-ललौंहे काहीके तारा-फूल, उड़ते-उड़ते बे-भरोस बादल, तीतरोंकी चौंकी-सी पुकार 'त-तीत्तिरि-त-तीत्तिरि-त-तुः', दूरपर गीदड़का रोने और भूँकनेके बीचका-सा सुर।

ये भी यथार्थ हैं।

लेकिन यथार्थताके स्तर हैं। स्थूल वास्तव, फिर सूक्ष्म वास्तव जिसमें हमारे भावका भी आरोप है, फिर—क्या और भी कोटियाँ नहीं हैं, जहाँ भाव ही प्रधान हो, जहाँ तथ्य वहीं पहचाना जाये, जहाँ वह व्यक्ति-जीवनके प्रसारमें गहरी लीकें काट गया हो, नहीं तो और पहचाननेका कोई उपाय न हो, क्योंकि व्यक्ति-जीवन, व्यक्ति-जीवनके क्षणका स्पन्दन इतना तीव्र हो कि सब कुछ उसीसे गूँज रहा हो, और कोई ध्वनि न सुनी जा सके?

उस चट्टानों और खँडहरोंसे भरे पठारकी खुली, फैली, लचीली, प्रवहमान व्यापकतासे अभिभूत किशोर अगर सहसा सुनता है कि तीतरकी बोली त-तीत्तिरि-त-तीत्तिरि न होकर कुछ और है—क्या है वह ठीक-ठीक सुन लेता है—और उस रेलगाड़ी-नुमा इमारतकी बत्तियाँ टिमटिमाकर उसे कुछ बहुत न ज़रूरी सन्देश कह रही हैं जो उसे चाँद निकलनेसे पहले सुन लेना है, क्योंकि फीके होते हुए दिग्बिन्दुसे अगर चाँद उभर आया और खँडहरकी अधूरी मेहराबपर उसकी जुन्हाई पड़ गयी तो न जाने उनकी

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

कौन-सी पोल खुल जायेगी—अगर वह यह सब सुनता है तो क्या उसका सुनना धोखा ही है, क्या वह भी वास्तविकताका नया स्तर नहीं है ? और क्या हमेशा ही हमारा जीवन एकाधिक स्तरपर नहीं चलता; हमारा अधिक तीव्रताके साथ जीना, क्या एक ही स्तरपर अधिक गति या विस्तारकी अपेक्षा अधिक या नये स्तरोंका हठात् जागा हुआ बोध ही नहीं है ? तीव्र जीवनके क्षण, नयी दृष्टि, नये बोधके क्षण, अनेक स्तरोंपर जीवनके स्पन्दन-की द्रुत अनुभूति—ये विरल ही होते हैं, जैसे कि तीसरा नेत्र कभी-कभी ही खुलता है····

किशोरने धीरेसे कहा, "सुनती हो, यह पक्षी क्या पुकार रहा है ? वह कहता है, प्र-मीला, प्र-मीला !"

प्रमीला निःशब्द हँस दी।

"सच, तुम सुनकर देखो—वह देखो—प्र-मीला, प्र-मीला—"

प्रमीलाने मानो कान देकर सुना। अबकी वह ज़रा ज़ोरसे हँस दी,··· हाँ, ठीक तो, अगर मानकर अनुकूलतासे सुनें तो सचमुच तीतर उसीका नाम पुकार रहे हैं, 'प्रमीला, प्रमीला !'

उसने धीरेसे किशोरका हाथ अपने हाथमें लेकर दबा दिया।

"और अभी जब चाँद निकलेगा, तब तुम देखना, वह जो धुँधली-सी मेहराब दीखती है न टूटी हुई, उसका आकार भी ठीक 'प्र' जैसा बन जायेगा, मानो चाँदनी तुम्हारा नाम लिख रही हो।"

प्रमीलाकी आँखें चमक उठीं। उसने कहा, "हाँ, और जब मोर पुकारेगा तो मैं सुनूँगी, वह कह रहा है, 'किशोर, किशोर।' और जब चाँद निकलेगा और बादलोंमें रुपहली झालर लग जायेगी—"

"हँसी करती हो ?"

"नहीं, हँसी क्यों करूँगी भला ? मैं सच कह रही हूँ—ये जो दूर-दूर तक पलासके झुरमुट हैं, इनकी काँपती पत्तियाँ न जाने किसके-किसके नामोंपर ताल देकर नाचती हैं, और वह कुण्डके पानीमें चक्कर काटती

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

टिटिहरी चौंककर न जाने किसे बुलाती है—हम सारा इतिहास थोड़े ही जानते हैं ? केवल अपने नाम सुन सके, वह भी इसलिए कि—इसलिए कि—"

"कहो न"

"इसलिए कि मैं—नहीं कहती। कहना नहीं चाहिए।"

"कहो भी न ?"

"इसलिए कि मैं—कि तुम—तुम मुझे—" और प्रमीलाने पास आकर अपनी आवाज़को किशोरके कन्धेकी ओट करते हुए कहा, "तुम मुझे प्यार करते हो।"

किशोरका हाथ घेरा हुआ-सा बढ़ गया, पर प्रमीलाके आस-पास शून्यमें ही एक वृत्त बनाकर खड़ा रहा।

"और इसी तरह कुँवर राजकुमारीको प्यार करता होगा, और कुण्ड के किनारे मिलने आता होगा, और उसीकी बातें पलासोंने सुन रखी हैं और हवाको सुनाते हैं...."

दूर गीदड़ फिर भूँका। किशोर तनिक-सा चौंका; प्रमीलाने पूछा, "क्या—कौन है ?"

किशोरने भी अचकचाये-से स्वरमें कहा, "कौन है ?"

थोड़ी दूरपर एक स्त्री-स्वर बोला, "तुम लोग वास्तवमें भागना क्यों चाहते हो ? कुँवर राजकुमारीको प्यार नहीं करता था।"

"फिर किसको करता था ? हाथीपर सवार होकर रोज़ राजकुमारीसे मिलने आता था तो—"

"अपनी छायाको। चन्द्रोदय होते ही वह कुण्डपर आता था, हाथीपर सवार. उसकी अपनी छाया कुण्डके एक ओरसे बढ़कर दूसरे किनारे नहाती हुई राजकुमारीकी जुन्हाई-सी देहको घेर लेती थी। उसी लम्बी बढ़नेवाली छायासे कुँवरको प्रेम था, राजकुमारी तो यों ही उसकी लपेटमें आ जाती थी।"

"ऐसा ? तो वह रोज़ आता क्यों था ? हाथीको पानीमें बढ़ाकर जब

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

वह दोनों बाँहें राजकुमारीकी ओर फैलाता—"

"तुम नहीं मानते ? मैं कुँवरसे ही पुछवा दूँ ? अच्छा, ठहरो, वह आता ही होगा—देखो—"

किशोरने देखा। एक बड़ी-सी छाया कुण्डके आर-पार पड़ रही थी—नीचे गोल-सी मानो हाथीकी पीठ; ऊपर सुघड़, लम्बी और नोकदार मानो टोपी पहने राजकुमार।

हाथी धीरे-धीरे पानीमें बढ़ रहा था। जब गहरेमें उसकी पीठका पिछला हिस्सा पानीमें डूब गया, तब वह खड़ा होकर पानीमें सूँड़ हिलाने लगा। कुँवरने एक बार नज़र चारों ओर दौड़ायी; राजकुमारीको न देखकर वह हाथीकी पीठपर खड़ा हो गया। दोनों हाथोंको मुँहके आस-पास रखकर उसने दो बार मोरके पुकारनेका-सा शब्द किया—"मैं-तूः मैं-तूः।" और फिर धीरेसे पुकारा, "राजकुमारी ! राजकुमारी हेमा !"

स्त्री-स्वरने कहा, "मैं जा रही हूँ वहाँ····कुँवरके पास। लेकिन वह मुझे नहीं, अपनी छायाको प्यार करता था।"

गोरोचनकी एक पुतली-सी कुण्डकी सीढ़ियाँ एक-एक करके उतरने लगी। निचली सीढ़ीपर पहुँचकर वह थोड़ी देर रुकी, देहपर ओढ़ी हुई चादर उसने उतारी और फिर एक पैर पानीकी ओर बढ़ाया। पानीमें चाँदनीकी लहरें-सी खेल गयीं।

हाथीकी पीठपर खड़े राजकुमारने शरीरको साधा, फिर एक सुन्दर गोल रेखाकार बनाता हुआ पानीमें कूद गया, क्षण-भरमें तैरकर पार जा पहुँचा, दोनों साथ-साथ तैरने लगे।

"हेमा, तुम आज उदास क्यों हो ? तुम्हारा अंग-चालन शिथिल क्यों है ?"

"नहीं तो। क्या मैं बराबर साथ-साथ नहीं तैर रही हूँ ?"

"हाँ, पर····वह स्फूर्ति नहीं है—तुम ज़रूर उदास हो—"

"नहीं-नहीं, मैं तो बहुत प्रसन्न हूँ। मेरी तो आज सगाई हो गयी है"—

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

"क्या ? राजकुमारी हेमा—क्या कहती हो तुम ? ठट्ठा मत करो—" कुँवर तैरता हुआ रुक गया ।

हेमाने रुककर उसे भरपूर देखते हुए कहा, "हाँ, आज तिलक हो गया ।"

"कौन—किसके साथ ? तुम कैसे मान सकीं ?"

हेमाने धीरे-धीरे कहा, "मैं राजकुमारी हूँ । ऐसी बातोंमें राजकुमारियोंकी राय नहीं पूछी जाती । साधारण कन्याएँ राय देती होंगी, पर हमारा जीवन राज्यके कल्याणके पीछे चलता है ।"

"और हमारा कल्याण—"

"वह उसीमें पाना होगा । अपना अलग हानि-लाभ सोचना क्षत्रियवृत्ति नहीं है, वैसा तो बनिये—"

"यह सब तुम्हें किसने कहा है ?"

"मेरी शिक्षा यही है—"

दोनों किनारेकी ओर बढ़ रहे थे । कुँवरने लपककर सीढ़ीको जा पकड़ा, और बाहर निकलकर उसपर जा बैठा । हेमा भी निकलकर पास खड़ी हो गयी । शरीरसे चिपकते गीले कपड़ोंके कारण वह और भी पुतली-सी दीख रही थी, गोरोचनका रंग और चमक आया था ।

दोनों देर तक चुप रहे । फिर कुँवरने कहा, "तो—यह क्या विदा है ?"

हेमाने अचकचाकर कहा, "नहीं, नहीं !"

"सुनो हेमा, राजकुमारी, तुम—अभी मेरे साथ चलो । हाथीपर सवार होकर यहाँसे निकलेंगे, फिर घोड़े लेकर—"

"कहाँ ?"

"हाथमें वल्गा पार्श्वमें हेमा राजकुमारी—तो सारा देश खुला पड़ा है···उधर कामरूप-मणिपुर तक, उधर विन्ध्यके पार कन्याकुमारी तक, हीं तो उत्तराखण्डके पहाड़ों—"

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

"और यहाँ पीछे—विग्रह और मार-काट, और लोहेकी साँकलोंमें बँधे हुए बन्दी, और—"

"प्यार पीछे नहीं देखता, हेमा; उसकी दृष्टि आगे रहती है। मैं देखता हूँ वह सुन्दर भविष्य जिसमें हम दोनों—"

"मैं भी देखती हूँ, कुँवर, मगर वह भविष्य वर्तमानसे कटकर नहीं, उसीका फूल है—जैसे बिना पत्तीके भी मधूकमें नया बौर····जैसे पलाशकी फुनगीको चूमती हुई आग—"

"नहीं राजकुमारी, मैं सम्पूर्ण जलना चाहता हूँ। धू-धू करके धधक उठना, बेबस, पागल, जैसे चैत्रमें पलाशका समूचा वन—"

"कुँवर!"

"कहो तुम मेरे साथ चलोगी—अभी?"

राजकुमारी चुप रही। फिर उसने धीरे-धीरे कहा, "सगाई तो हुई है, क्योंकि नयी सन्धि भी हुई है। विवाहकी तो अभी कोई बात नहीं है; क्योंकि विवाहके बाद शायद सन्धिमें वह बल नहीं रहेगा—मैं उधरकी जो हो जाऊँगी। इस प्रकार मैं देशकी शान्तिकी धरोहर हूँ····इधरकी कुमारी, उधरकी वाग्दत्ता—मैं कैसे भाग जाऊँ?"

"तो क्या कहती हो?"

"कुछ नहीं कहती कुँवर। मैं रोज यहाँ आती हूँ, आती रहूँगी। तुम—तुम भी आते हो। यह कुण्ड हमारा अपना राज्य है····नहीं, राज्य नहीं, हमारा घर है जहाँ हम अपनी इच्छाके स्वामी हैं, धरतीके दास नहीं। यहीं हम रहते रहेंगे, चाँदनी और तारों-भरा अन्धकार हमें घेरे रहेगा—कुँवर, क्या तुम मुझे ऐसे ही नहीं प्यार कर सकते?"

"और भविष्य?"

"वह किसीका जाना नहीं है। और उतावली करके उसको नष्ट करना—"

"धीरज धीरज, हेमा! मैं तुम्हें चाँदनीकी तरह नहीं चाहता जो आवे

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

और चली जावे, मैं तुम्हें—मैं तुम्हें—अपनी छायाकी तरह चाहता हूँ, हर समय मेरे साथ, जब भी चाँदनी निकले तभी उभरकर मुझे घेर लेने वाली—''

"और जब चाँदनी न हो तब क्या अन्धकार मुझे लील लेगा—मैं खो जाऊँगी ?'' राजकुमारीका शरीर सिहर उठा।

"तब तुम मुझीमें बसी रहोगी, राजकुमारी !''

दूर कहींपर चौंककर तीतर पुकार उठे। पहले एक, फिर दूसरी ओर से और एक। राजकुमारीने सचेत होकर कहा, "अच्छा, कुँवर, मैं चली। कल फिर आऊँगी। तुम चिन्ता मत करना।''

कुँवरने कहा, "राजकुमारी !'' फिर कुछ भर्राये-से स्वरमें कहा, "हेमा !''

हेमाने धीरेसे कहा, "अपने चाँदको तुम्हें सौंप जाती हूँ। देवता तुम्हारी रक्षा करें, कुँवर—''

उसने जल्दीसे चादर ओढ़ी और निःशब्द लचीली गतिसे सीढ़ियाँ चढ़ चली।

कुँवरने एक बार दक्षिण आकाशमें उभरे वृश्चिकको देखा, फिर झुककर पानीमें हो लिया और क्षण-भरमें हाथीकी पीठपर पहुँच गया। अँधेरेका एक पुंज-सा पानीमें-से उठा और कुण्डके छोरपर अँधेरेकी एक बड़ी-सी कन्दरामें खो गया।

हेमाका स्वर फिर पास कहीं बोला, "समझे ?''

किशोरने कहा, "राजकुमारी, तुम तो कहती हो वह प्यार नहीं करता ? वह तो—''

"कब कहती हूँ नहीं करता था ? पर मुझे नहीं, अपनी प्रलम्बित छायाको। तभी तो मुझे छोड़कर चला गया—''

"चला गया ?''

"हाँ, दूसरे दिन वह नहीं आया। मैं देर रात तक कुण्डपर बैठी रही।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

तीसरे दिन भी नहीं। फिर पता लगा, जहाँ मेरी सगाई हुई थी वहाँ–वहाँ उसने आक्रमण कर दिया है एक अश्वारोही टुकड़ीके साथ—"

"फिर ?"

"फिर ! इतिहास बाँचना मेरा काम नहीं है, अपरिचित ! वह सब तुमने पढ़ा होगा—कितने राज्य, कितने राजकुल विग्रहोंसे घुल गये, इसका लेखा-जोखा रखना तो तुम्हारी शिक्षाका मुख्य अंग है ! हम तो स्वयं जीने-वाले हैं, जीवनके प्रति समर्पित होकर, क्योंकि जीवनका एक अपना तर्क है जो इतिहासके तर्कसे—"

"पर कुँवर ? राजकुमारी, कुँवरका क्या हुआ ?"

"वह नहीं आया। दूसरे दिन नहीं, तीसरे दिन नहीं, सप्ताह नहीं, पखवाड़े नहीं। महीने और वर्ष बीत गये। विग्रह फैला और फैलता ही गया। वह नहीं आया फिर। और—आज भी मैं नहीं जानती कि मैं—कि मैं केवल वाग्दत्ता हूँ, कि विधवा, कि—कि केवल इस कुण्डकी विवाहिता वधू, जिसकी लहरियोंसे खेलते मैंने वर्ष बिता दिये।"

"पर यह तो कुछ समझमें नहीं आया। बात कुछ बनी नहीं।"

"बातका न बनना ही उसका सार है, अपरिचित ! प्यारमें अधैर्य होता है, तो वह प्रियके आस-पास एक छायाकृति गढ़ लेता है, और वह छाया ही इतनी उज्ज्वल होती है कि वही प्रेय हो जाती है, और भीतरकी वास्तविकता—न जाने कब उसमें घुल जाती है, तब प्यार भी घुल जाता है। तुम मुझे देख रहे हो, क्योंकि मेरे साथ तुम्हारा कोई रागात्मक सम्बन्ध नहीं है। मैं खँडहरकी जमी हुई चाँदनी हूँ····कुण्डकी एक विजडित लहर हूँ। पर मुझे देखो, देर तक देखो, लालसासे देखो—तब देखोगे, मेरे आस-पास कितनी घनी दुर्भेद्य छाया तुमने गढ़ ली है—क्यों भद्रे, तुम क्या कहती हो ?"

प्रमीला इस सम्बोधनसे अचकचा गयी। उसने तनिक-सा किशोरकी ओर हटते हुए कहा, "मैं—मैं—कुछ नहीं राजकुमारी, मैं तो—"

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

राजकुमारी ईषत् स्मित-भावसे बोली, "मैं तो जो कहूँगी इस पार्श्ववर्ती अपरिचितसे कहूँगी, यही न ?" फिर कुछ गम्भीर होकर, "लेकिन भद्रे, वही ठीक है। यह फैला पठार देखो—आकाश, आँधी, पानी, शीतातप, सबके प्रति यह समर्पित है, किसीके आस-पास छायाएँ नहीं गढ़ता, और सबकी वास्तविकता देखता है। तुम तो जानती हो, तुम मेरी बहन हो। तुम्हें कुछ कहना ही हो, ऐसा क्यों आवश्यक है ? यह पठार भी तो कुछ नहीं पूछता ! अपरिचित, क्या यह पठार वास्तव है, तुम्हें लगता है ?"

"हाँ, और नहीं। मैं नहीं जानता। इस समय मैं मानो इससे आत्मसात् हूँ, अलग उसको जोखनेकी दूरी मुझमें नहीं।"

"वह तो जानती हूँ। पठारसे, कुण्डसे, आत्मसात् न होते, तो क्या मुझे देखते ? मेरी बात सुनते ? क्योंकि मैं—"

"राजकुमारी, तुम कौन हो ? क्या तुम वास्तव नहीं हो ?"

"वास्तव !" राजकुमारी हँसी। तारे मानो कुछ और चमक उठे, और हवा कुछ तेज़ हो गयी। वास्तव तो हूँ, शायद; जो कुछ है सभी वास्तव है। लेकिन वास्तविकताके स्तर हैं। धीरज हमें एक साथ ही अनेक स्तरोंकी चेतना देता है, अधैर्य एक प्रकारका चेतनाका धुआँ है जिससे बोधका एक-एक स्तर मिटता जाता है और अन्तमें हमारी आँखें कड़ुवा जाती हैं हमें कुछ दीखता नहीं—"

फिर वही तीतर बोले, "त-तीत्तिरि, त-तीत्तिरि !"

राजकुमारीने कहा, "कभी इस पठारके तीतर और मोर दूसरे नाम पुकारा करते थे। मैंने अपना नाम अनेक बार सुना था। पर अब—" उसने फिर मुसकराकर अर्थ-भरी दृष्टिसे दोनोंको देखा, "अब कदाचित् वह और नाम पुकारते हैं—है न ?"

तीतर फिर बोले, "त-तीत्तिरि, त-तीत्तिरि।"

प्रमीला कुछ लजा गयी। किशोरने अचम्भेमें आकर कहा, "राजकुमारी, तुम कौन हो ?"

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

"मैं कोई नहीं हूँ। मैं पठारका धीरज हूँ। वह दृष्टि देता है। लेकिन मैं चली—"

एक ज़ोरका झोंका आया। कुण्डपर अठखेलियाँ करती चाँदनी लहराकर चक्कर खाकर मूर्छित हो गयी, अदृश्य टिटिहरी उड़ता वृत्त बना चीख़ उठे, बादलका एक चिथड़ा चाँदका मुँह पोंछ गया, पलाशके झोंप सनसना उठे, कहीं गीदड़ भूँका, प्रमीला किशोरके और निकट सरक आयी, और, उसे मग्न-सा देखकर बड़े हलके स्पर्शसे उसे छूकर स्वयं ठिठक गयी; किशोर ने अचकचाये निःशब्द स्वरसे मानो कहा, "कौन—कहाँ—" और फिर सचेत होकर चारों ओर आँखें दौड़ायीं।

कहीं कोई नहीं था, केवल पठारका सन्नाटा।

तीतर एक साथ ज़ोरसे पुकार उठे, "त-तीत्तिरि, त-तीत्तिरि।"

किशोर और प्रमीलाकी आँखें मिलीं, स्थिर होकर मिलीं और मिली रह गयीं।

नहीं, यह बिलकुल आवश्यक नहीं है कि तीतर किसीका भी नाम पुकारे। पठारकी अपनी एक वास्तविकता है, उनकी अपनी एक वास्तविकता है। दोनों समान्तर हैं, सहजीवी हैं, संयुक्त हैं; यह बिलकुल आवश्यक नहीं है कि वास्तविकताके अलग-अलग स्तर कहीं भी एक-दूसरेको काटें। जो बोध स्वयं ही हो; चेतना स्वतः उभरकर फैलकर जिस स्तरको भी छू आवे; चेतना स्वच्छन्द रहे, निर्धूम रहे, क्योंकि धीरज उनमें है, उनमें रहेगा—

किशोरने हाथ बढ़ाकर प्रमीलाके दोनों शीतल हाथ थाम लिये।

तीतर फिर बोला, 'त-तीत्तिरि!'

आँखोंमें बड़ी हलकी मुसकान लिये दोनोंने एक-दूसरेको सिरसे पैर तक देखा।

और स्थिर धीरज-भरे विश्वाससे जान लिया कि छाया किसीके आस-पास नहीं है, दोनों वास्तवमें सामने-सामने हैं, हैं।

तब चाँद गोरोचनके बहुत बड़े टीके-सा बड़ा हो आया।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

साँप

अच्छाई-बुराईकी बात मैं नहीं जानता। कमसे-कम इतनी नहीं जानता कि सबके, और खासकर अपने, बारेमें यह फ़ैसला कर सकूँ कि हम अच्छे हैं कि बुरे। लेकिन उसके बिना जी न सकें, चल न सकें, चाह न सकें, ऐसा तो नहीं है? उसके लिए जितना ज़रूरी है, उतना मैं जानता हूँ कि वह अच्छी है। और यह भी जानता हूँ कि इस बातको जाने रहना, पकड़े रहना ज़रूरी है कि वह अच्छी है।

सवेरे-सवेरे उससे मिलने गया था। यों तो अकसर हम मिलते हैं, पर वह सवेरे-सवेरेका मिलन कुछ बहुत विशेष था। मैं चौंककर उठा था, तो एक तो जिस स्वप्नसे उठा था, वह मेरे मनपर छाया था; दूसरे आँख खोलते ही सामने देखा, बगुलोंकी एक छोटी-सी डार आकाशमें उड़ी जा रही थी। तो पहले तो मैं इसमें उलझा; स्वप्न बहुत मीठा था, उसकी मिठास बिगड़नेका डर नहीं था, बल्कि उलझनेसे ही डर था, यों छोड़ देनेसे वह और छायी जा रही थी····इसलिए बगुलोंकी डारपर ही चित्त स्थिर किया। न जाने उससे क्यों एक हिलोर, एक ललक मनमें उठी। उसे मैंने कवितामें बाँधना चाहा—कविता मुझे नहीं आती, छन्द बाँधनेसे तो कसीदा काढ़ना कम दुष्कर मालूम होता है; पर हाँ, आधुनिक ढंगकी, अनकहनीको अर्थकी बजाय ध्वनिसे कहना चाहनेवाली कवितासे कुछ ढाढस बँधता है कि हाँ, यह तो हीरा-पन्ना-मोती जड़ा देव-मुकुट नहीं है, देशी पहरावा है, यह दुपल्ली शायद हम भी ओढ़ लें। तो मैंने कहना चाहा, "भालेकी अनी-सी बनी, बगुलोंकी डार, फुटकियाँ छिटफुट, गोल बाँध डोलतीं, सिहरन उठती है एक देहमें, कोई तो पधारा नहीं मेरे सूने गेहमें, तुम फिर आ गये, क्वाँर?" देहमें, गेहमें तो बाक़ायदा तुम बन

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

गयी; और अन्तमें क्वाँरकी तुक जो दूर कहीं बगुलोंकी डारसे मिल बैठी तो जैसे स्मृतिमें कविता छा गयी, और कुछ पूरेपनका भाव आ गया—मुझे अच्छा लगा। इतना अच्छा लगा कि फिर आगे नहीं सोचा; फिर स्वप्न-हो-स्वप्न था और मैं फिर उसीमें डूब गया। स्वप्न-भरी आँखें लिये-लिये ही उसके पास पहुँचा, और उससे बोला, "घूमने चलोगी ? दूर-लम्बी सैर-को—जंगलमें-को चलोगी ?"

इतना तो ख़ैर उसे जवाबका मौक़ा देनेसे पहले कह ही गया। पर इतना ही नहीं। मन-ही-मन आगे और भी बहुत कुछ कह गया, जैसे बगुलोंकी डार देखकर मन-ही-मन क्वाँरसे बतिया गया था, वह भी कविता में। मैंने कहा कि चलोगी, जंगलमें-को, जहाँ, सन्नाटा है, एकान्त है, जहाँ सब अपनी-अपनी धुनमें ऐसे मस्त हैं कि मस्तीकी एक नयी धुन बन गयी है जिसमें सब गूँजते हैं—पर अलग-अलग, बिना एक दूसरेपर हावी हुए, जैसे शहरमें होता है—शहरमें जहाँ तुम कुछ ही करो, दूसरोंको बड़ी दिलचस्पी है, टाँग नहीं अड़ायेंगे तो शोर तो मचायेंगे और नहीं तो राह चलते खँखारते हुए ही चले जायेंगे! जंगलमें मस्त, मनचले, निर्जन जंगल-में जहाँ बड़ा मीठ-मीठा धुँधला अँधेरा है, आसरा और ओट देनेवाली घनी छाँहकी बाँह है—उस जंगलमें चलोगी ? वहाँ जहाँ कोई न होगा, वहाँ—लेकिन इतना कहकर न जाने क्यों ज़बान रुक जाती थी। मन ही रुक जाता था, भोरका देखा हुआ स्वप्न ही छा जाता था। स्वप्न मुझे याद था, बार-बार उभरकर याद आता था पर गूँगेकी गुड़की तरह—स्वप्न-भरी आँखसे मैं अब भी देखता था कि उसमें हम—

वह चल पड़ी मेरे साथ सैरको। वह अच्छी जो है। मैं जानता हूँ। मेरे साथ-साथ चलती जा रही थी और साथ चलते-चलते मेरे-जैसे दो मन हो गये थे। एक उमँग रहा था कि वह कितनी अच्छी है और साथ है और दूसरा अभी स्वप्नकी खुमारीमें ही था, मीठे स्वप्न कि जिसमें हम—

24184

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

हम लोग जंगलमें पहुँच गये। पहले, गीली-गीली भारी-भारी, ओससे दूधिया घास—उससे भी मैंने चलते-चलते बात कर ली कि वाह, ऊपरसे तो चिट्टी-चिट्टी दूध-धुली साधू-बाबा, भीतर-भीतर उमंगोंसे कितनी हरी हो रही है, क्या कहा है किसीने, अरमान मचलते हैं—फिर झाड़ियाँ शुरू हो गयीं, फिर छोटे पेड़, फिर न जाने कब जंगल चुपकेसे घना हो गया। पहले करंज और झाऊ और ढाक, फिर सेमल और तून और फिर बड़े-बड़े महा-रूख। ज़मीन भी ऊँची-नीची हो गयी, कहीं टीला, कहीं पगडण्डी तो कहीं पानीकी लीक जहाँ कुछ दिन पहले नाला बहता होगा। लेकिन टीला तो उसे कहें जो खुला हो, जिसकी टाँट देखी जाये, यहाँ तो सब ऐसा ढका था! फिर बीहड़में सहसा एक थोड़ी-सी खुली जगह भी, ज़रा ऊँची मगर वैसे चिपटी, जैसे एक चौकी-सी पड़ी हो झाड़ियोंमें, उसपर एक पुराना देवी-मन्दिर। मैं इतनी उमँगती उदार तरंगमें था कि कह गया मन्दिर, नहीं तो उस छोटी-सी, अध-टूटी, काहीसे काली देवलीको बहुत कोई माईका थान कह देता, मन्दिर! लेकिन मैंने देवीका मन्दिर ही देखा; बीहड़ वनके बीच मन्दिर; मैंने सोचा यहाँ कभी तान्त्रिक साधक बैठकर देवीको साधते होंगे। और उनकी साधनाके औघड़ रूप भी जल्दीसे मेरी दृष्टिके सामने दौड़ गये—बहुत-से, क्योंकि दृष्टि असलमें तो अभी स्वप्नसे आविष्ट थी, उसे साधकोंकी रंगीन विकृतियोंसे क्या मतलब था, वह तो उसी स्वप्नको देख रही थी जिसमें हम—

हम····यानी वह और मैं, और वह मेरे साथ चली आ रही थी। बड़े भोलेपनसे। उसकी आँखोंमें मेरी तरह दोहरी दीठ नहीं थी, वे खुली बाउड़ियाँ थीं, स्वच्छ, शीतल उड़ते बादलकी परछाईं दिखानेवाली। वह वैसी ही मुग्ध, अपनेमें सम्पूर्ण मेरे साथ चली आ रही थी! मैं उसे देख लेता था, उसके साथ होनेकी बात सहसा मनमें उभरती थी, फिर बीहड़ वनके अकेले, हरे, गीले धुँधलेपनकी, फिर मेरी आँखें उसकी आँखोंकी कोरसे एक ढुलकी हुई लटके साथ फिसलकर उसके ओठों तक आती थीं

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

और फिर मेरा मन ठिठक जाता था। फिर आगे नहीं सोचता था, फिर पीछे लौट जाता था। क्योंकि पीछे स्वप्न था, स्वप्न जो पूरा था, जिस स्वप्नमें हम···

तभी सामने नीचे कुछ तीखी सुरसुराहट हुई ! हम ठिठक गये। सहसा वह बोली, "वह देखो सामने, साँप।"

मैंने भी देख लिया। घासके किनारेपर, मन्दिरके आस-पासकी बजरी पर रेंगता हुआ, ललौंहे-भूरे रंगका साँप था।

वह गोल-गोल आँखें करके बोली, "कितना सुन्दर है साँप !"

उसकी आँखें सचमुच बड़ी भोली थीं। डर उनमें बिलकुल नहीं था। केवल एक भोला विस्मय, एक मुग्ध भाव कि अरे, ऐसी सुन्दर चीज़ भी होती है, वह भी मिट्टीमें पड़ी हुई, अनदेखी, उपेक्षित !

मैंने भी देखा। सचमुच साँप सुन्दर होता है। निर्माताकी एक बड़ी सफलता है, बड़े कलाकारकी प्रतिभाका एक करिश्मा—कहीं कोने नहीं, कहीं अनावश्यक रेखा नहीं, बाधा नहीं, भार नहीं; लहरीली, निरायास, लय-युक्त गति, बिजली-सी त्वरा-युक्त लेकिन बिजलीकी कौंधमें भी कहीं नोकें होती हैं और साँपकी गति निरा प्रवाह है····सुन्दर, लचीला, ललौंहा-भूरा रंग, झिलमिल चमकीली केंचुल, चित्तियाँ जो न मालूम केंचुलके ऊपर हैं कि भीतर, ऐसी काँचके भीतरसे झाँकती-सी जान पड़ती हैं····

मैंने तो देख लिया। फिर मैं उसे देखने लगा, और वह साँपको देखती रही। हम दोनों जैसे मन्त्रमुग्ध थे, लेकिन एक ही मन्त्रसे नहीं। वह साँपको देखती थी, मैं उसे देखता था। वह साँपके लयमय प्रवाहपर विस्मय कर रही थी, मैं उसके चेहरेकी मानो क्षण भरके लिए थम गयी चंचल बिजलियोंको देख रहा था और सोच रहा था, कोने एक दूसरेको काटते हैं, पर लहरीली गतिमान रेखाएँ काटती नहीं, झटसे कौंधकर मिल जाती हैं, बिजलीकी कौंध तो है ही लय होनेके लिए; लहरको देखो और खो जाओ, डूब जाओ, लय हो जाओ। उसकी आँखें साँपपर टिककर मुग्ध

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

थीं। मेरी आँखोंमें मेरे भोरमें देखे हुए स्वप्नकी खुमारी थी। स्वप्नमें मैंने इसी तरह देखा था कि····

साँप आगे बढ़ गया। मन्दिरकी दीवारके साथ सट गया, ऐसा सटकर चिपक गया कि बस—जैसे मन्दिरकी रेखासे अलग उसकी रेखा नहीं है, जैसे मन्दिरकी नींवसे ही वह सटा हुआ उठा है और वैसा ही रहेगा।

और चिपके-चिपके भी वह स्थिर नहीं था, वह आगे सरक रहा था। आगे-आगे, और गहरा चिपकता हुआ। जैसे उसकी देहकी रगड़की आरी से कटकर मन्दिरकी दीवारके नीचे उसके लिए जगह बनती जाती हो और उसमें वह धँसता-पैठता जाता हो।

बढ़ता हुआ वह हमारे सामनेकी दीवारके कोने तक बढ़कर दूसरी दीवारके साथ मुड़ चला। थोड़ा और बढ़ा, फिर रुक गया। आधा इस दीवारके साथ जो हमारे सामने थी आधा साथकी, जो हमारी ओट थी। उसका सिर ओट हो गया, कमर दोनों दीवारोंके जोड़पर टिक गयी।

मैंने सहसा कहा, "इस वक़्त यह कैसा वेध्य है। अगर मैं मारना चाहूँ, तो निरीह मर जाये—"

"हाँ, लेकिन क्यों मारना चाहो? इतना सुन्दर—"

मैंने अपनी ही झोंकमें कहा, "अभी ढील मारूँ, तो बस, काटनेको मुड़ भी न सके—"

"क्या ज़हरीला है?"

"हो भी तो क्या? इस समय असहाय है, मौक़ेकी बात है, कुछ कर भी न सके, सारा रूप लिये ज्योंका-त्यों पड़ा रह जाये बिटुर-बिटुर तकता!"

उसकी पहले ही मुग्ध गोल आँखें करुणासे और बड़ी-बड़ी हो आयीं। बोली, "बेचारा कितना असहाय!" कितनी करुणा थी उस स्वरमें, कितना निरीह था वह स्वर कि शायद साँपसे भी अधिक निरीह! स्वप्नमें मैंने देखा था वह और मैं—हम—लेकिन स्वप्नकी उलझन—जैसे सुलझ गयी, मेरी दोहरी दीठ इकहरी हो गयी और मैंने देखा, मैं अलग यहाँ, वह अलग

३

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

वहाँ, बड़ी सुन्दर, बड़ी अच्छी, मेरे साथ जङ्गलमें अकेली, लेकिन अलग वहाँ। और हम दोनों खड़े उस सुन्दर चित्तीदार, ललौहें-भूरे, लचीली लहरसे बलखाते साँपको देखते रहे। मैं भी, वह भी। चाहे मैं साँपको जितना देख रहा था उससे अधिक उसीको देख रहा था। साँप तो मन्दिर की भीतसे सटा खड़ा था, और वह मुझसे सटी खड़ी थी।

फिर मैंने कहा, "चलो आगे चलें।"

हम लोग चल पड़े। पर असलमें आगे हम नहीं चले, हम लौट आये। वह बीहड़में का मन्दिर वहीं खड़ा रह गया। तान्त्रिक वहाँ कभी अपनी औघड़-पूजा किया करते होंगे, किया करें। उन्होंने वैसा सुन्दर साँप कभी थोड़े ही देखा होगा—कमसे-कम उतना असहाय और वेध्य? यों तो मैंने भी कभी नहीं देखा, स्वप्नमें भी नहीं, यद्यपि सपने मैंने एकसे-एक सुन्दर देखे हैं, जिन्हें मैं कह भी नहीं सकता। और किसीको तो क्या, उसको भी नहीं, जो मैं जानता हूँ कि इतनी अच्छी है, चाहे मैं अच्छा होऊँ या बुरा।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

आदमकी डायरी

मैं क्यों और कैसे बना ?

'बनना' क्या होता है, मैं जानता हूँ। क्योंकि यवाने और मैंने मिलकर इस सुन्दर उद्यानकी मिट्टीमें कई बार टीले बनाकर ढहा दिये हैं, कई बार अपने पैरोंके ऊपर गीली मिट्टी जमाकर पैर खींचकर वैसी ही खोह बनायी है जैसीमें हम रहते हैं····यह भी मैं जानता हूँ कि जैसे पैर ढँक लेनेसे और हाथ छिपा लेनेसे भी उनकी बनायी हुई खोह बनी ही रहती है, उसी तरह जिन चीज़ोंका बनानेवाला नहीं दीखता, उसका भी कोई बनानेवाला होता अवश्य है। खोहके भीतर पैरके आकारका खोखल देखकर हम उस पैरकी कल्पना कर सकते हैं जिसपर वह कन्दरा टिकी थी; बाहरसे कन्दराकी दीवारपर उँगलियोंकी छाप देखकर हाथका अनुमान कर लेते हैं···इसी तरह यदि हम इस उद्यानके रंग-बिरंगे, सूखे-गीले, चल-अचल विस्तारसे परे देख सकते, तो शायद इसके भीतर भी हमें किसीके पैरके आकारकी प्रतिकृति दीख पड़ती, इसपर भी किसीके हाथोंकी छाप पहचानी जा सकती····हम छोटे हैं, बनानेवाला बड़ा होगा; हो सकता है कि जैसे इस उद्यानकी मिट्टीपर बड़ी लम्बी लकीर बना सकता हूँ उसी तरह बनानेवाला वैसे तो छोटा हो पर बड़ाईको भी घेर सकनेकी, मिटा और फिर बना और आड़ा-तिरछा बना सकनेकी भी सामर्थ्य रखता हो····

तो मुझे कैसे, किसने, क्यों बनाया ?····समझमें नहीं आता। वह कोनेके पेड़में पड़ा हुआ साँप अपनी गुंजलक खोलकर और जीभ लपलपाकर कहता था—पर साँपकी बात मुझे बुरी लगती है····वह जब इधर-उधर पलोटता हुआ सरकता है और मिट्टीपर सूखे नाले-सी लकीर

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

डालता चलता है, तब मेरे रोएँ न जाने क्यों खड़े हो जाते हैं। साँपको देखता हूँ, तो दिन-भर अनमना-सा रहता हूँ; यवा पूछ-पूछकर तंग कर देती है कि क्यों ? पर मेरा दिन अच्छा नहीं बीतता....साँप अनिष्ट है....

क्यों उसने मेरे मनको ठीक वैसे ही घेरकर बाँध लिया है जैसे वह उस फल देनेवाले पेड़को अपनी गुंजलकमें कसे रहता है ? क्यों मेरा मन या तो सोच ही नहीं सकता, या साँपके दबावके अनुसार ही सोच सकता है ?

वह मुझे देखकर हँसता है। उसकी हँसीमें कुछ ऐसा होता है, जो काँटकी तरह सालता है। वह बताना चाहता है कि वह मुझसे अधिक जानता है, मुझसे अधिक समर्थ है, मुझसे अधिक पराक्रमी है। किन्तु मैं तो यवाको देखकर यवाको दर्द पहुँचानेके लिए कभी नहीं हँसा हूँ ? यवा भी तो बहुत-सी बातें नहीं जानती जो मैं जानता हूँ, यवासे भी तो बहुत-से काम नहीं होते जो मैं कर सकता हूँ।

यवा मेरे साथ रहती है। यवा मेरी है। मैं उसके लिए फल लाता हूँ, मैं उसके लिए फूल तोड़कर बिछाता हूँ। मैं अपने मुँहमें पानी लेकर एक-एक घूँट उसके मुँहमें छोड़ता हूँ। मुझे इसमें सुख मिलता है कि जो काम मैं करता हूँ वे सबके-सब यवा न कर सकती हो। मुझे इसमें भी सुख मिलता है कि जो काम वह कर भी सकती है, वे भी मेरी मददके बिना न करे। यवा मेरी है।

साँप तो मेरा कोई नहीं है ? उसका दिया हुआ तो मैं कुछ लेता नहीं ? एक फल दिखाकर कभी वह बुलाया करता है, कभी डराया करता है, कभी तिरस्कारसे हँसता है, पर मैंने तो वह फल कभी चाहा नहीं है, मैंने तो उसकी ओर देखा भी नहीं है, मैंने साँपकी बुलाहटकी अनसुनी ही सदा की है, तब वह क्यों हँसता है ?

मैं साँपका नहीं हूँ, क्या इसीलिए वह हँसता है ? यदि मैं भी उसका

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

होता, जैसे यवा मेरी है, तब क्या वह भी मेरी कमज़ोरीमें सुख पाता, क्या वह भी अपनी लपलपाती हुई जीभसे चाटा हुआ पानी मुझे····पर उह ! मैं नहीं चाहता वह !

लेकिन साँप हँसता था और कहता था, मैं उसका हूँ। कहता था जब तुम बने भी नहीं थे, तबसे तुम मेरे ही थे, जब तुम नहीं रहोगे; तब भी तुम मेरे ही रहोगे। मेरी गुंजलक तुमको घेरनेवाली लकीर है। उसके बाहर कहीं भी तुम नहीं जाओगे, कहीं भी नहीं रह पाओगे।

मैं उसका हूँगा, जिसने मुझे बनाया है और यह सब कुछ बनाया है। पर वह कौन है, मैं कैसे जानूँ····

वह साँप तो कुछ भी नहीं मानता। उनकी हँसी एक भीषण अवमाननाकी हँसी है। उसमें विश्वास नहीं है····वह कहता है मैं सब कुछ जानता हूँ; क्या जानना ही विश्वास छोड़ना है और क्या विश्वास छोड़नेसे ही बड़ा और समर्थ बन जाता है ?

उसकी किसी बातमें विश्वास नहीं है। पर जब वह बात कहता है तो लगने लगता है, इस बातमें विश्वास किया जा सकता है····

जबसे मैंने साँपका इशारा मानकर उसकी बतायी हुई दिशामें देखा है, तबसे मेरा तन अभी तक थर-थर काँपता ही जा रहा है····

उसने कहा था, "तुम कहते हो, यवा मेरी है, इसलिए हम दोनों एक हैं। पर जो चीज़ें एक-जैसी नहीं हैं, एक तरह नहीं बनी हैं, वह एक कैसे हैं ? तुम धोखेमें हो, धोखेमें।"

मैंने उसकी बात नहीं सुनी थी। मैंने जवाब नहीं दिया था। मन हीमें सोचा था, यह झूठ है। हम दोनों एक हैं, क्योंकि इतने बड़े उद्यानमें एक यवा ही थी जिसको देखकर मैंने जाना था कि यह मेरे जैसी है, और जो सहसा ही मेरे पास आकर आयी ही रह गयी थी, भोजन खोजने भी नहीं

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

गयी थी; जिसके लिए मुझे स्वयं ही भोजन लानेकी और बैठनेकी जगह बनानेकी इच्छा हुई थी····हम दोनोंमें कुछ भी भेद नहीं है, हम दोनों एक ही हैं, उद्यानमें हम दोनों हैं जो एक-दूसरेको जानते हैं····साँप झूठा है।

पर वह ठठाकर हँस पड़ा था और बोला था, "तुम यवाको नहीं जानते, नहीं जानते। तुम अपनेको भी नहीं जानते। तुम नंगे हो, नंगे!"

वह शायद मेरा मौन तुड़वाना चाहता था; तभी तो जब मैंने उसकी बात न समझ कर पूछा था, "नंगा क्या होता है?" तब वह ठठाकर हँस पड़ा था और बोला था, "नंगे हो तुम! नंगी है यवा! तुम दोनों नंगे हो, तुम अलग हो, तुम दो हो!"

मैं तब भी नहीं समझा था, किन्तु तभीसे न जाने क्यों मेरे शरीरमें कँपकँपी शुरू हो गयी थी। और यवाको अपने पार्श्वमें आया देखकर मैं आश्वस्त नहीं हुआ था, और उसकी तरफ़ देखकर जैसे सहसा मुझे लगा था, क्या यवा सचमुच और है? अपनी देह देखकर तो मुझे ऐसा कुतूहल नहीं होता जैसा यवाकी देहको देखकर होता है, तब क्या सचमुच वह देह मेरी देहसे और है!

यवाने कुछ समझकर मेरा कन्धा पकड़ लिया था, और जैसे मेरे रोंगटे और भी काँप कर खड़े हो गये थे····और साँपने फिर हँस कर कहा था, "यवा कहती थी, सब कुछ एक ही किसीने बनाया है। तब तो सब कुछ एक है, है न? तब हमें सर्वत्र एकता दीखनी चाहिए। पर देखो तुम्हारे शरीर और और हैं—वे तुम्हारे बनानेवालेकी एकताको झूठा बताते हैं! जाओ उसे छिपाओ—और उसे, और उसे, और उसे!"

और उसकी पलकहीन आँखें और लपलपाती दुहरी जीभ-जैसे हमारी देहोंको जगह-जगह छेदने लगीं····

मैंने अपने ही कम्पनपर क्रुद्ध होकर कहा, "यवाने तुमसे कहा, यवाने! तुम झूठे हो, यवा तुम्हारी ओर देखती भी नहीं!"

साँप कुछ शान्त होकर बोला, 'क्या कहा?' और जैसे हमें भूलकर

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

चक्करपर-चक्कर देता हुआ उस पेड़पर लिपटने लगा। पेड़का तना छिप गया, फिर एक-एक करके शाखें भी छिपती चलीं....

पता नहीं क्यों पेड़का छिपते जाना मुझे अच्छा नहीं लगा। लगने लगा कि यह अनिष्ट है, पर जैसे मेरी आँख उसपरसे हटी नहीं, और मेरी देह और भी काँपने लगी।

यवाने मुझे खींचते हुए कहा, "चलो, यहाँसे चलो....!"

एकाएक मुझे कुछ याद आया; मैंने यवासे पूछा, "यवा, क्या तूने सचमुच साँपसे बातकी थी ?"

यवाने डरकर मुझे और भी जोरसे खींचते हुए कहा, "चलो, आदम, चलो यहाँसे !"

हम लोग हट गये। दूर चले गये, जहाँ वह पेड़ और साँपकी खड़े पानी-सी आँखें हमें न दीखें। पर मेरे शरीरका कम्पन बन्द नहीं हुआ, और मुझे लगता रहा कि शून्य हवामें-से कहींसे साँपकी आँख निरन्तर मुझे भेद रही है....

जब झीलमें-से नहाकर तपती रेतपर लेटे-लेटे हमें फिर भोजनकी इच्छा हुई, और हमने देखा कि आकाशका वह पीला फल फिर लाल हो चला है, तब एकाएक मुझे बहुत अच्छा लगने लगा। मनमें हुआ, आज साँपकी हर एक बातका मैं सामना कर सकता हूँ। मैं यवाका हाथ पकड़कर उसे उसी पेड़की ओर खींच ले चला जिसपर साँप लिपटा था।

मुझे डर नहीं लगा, मैं काँपा भी नहीं। राहमें एकाएक मैंने पूछा, "यवा, तुमने सचमुच साँपसे वह बात कही थी ?"

यवाने जवाब नहीं दिया। फिर एकाएक चौंककर बोली, "वह देखो, वह !"

मैंने देखा।

पेड़ सारा साँपकी गुंजलकमें छिप गया था। जैसे कीड़ा पत्तेको समूचा

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

खा जाता है, वैसे ही साँपकी गुंजलकने भूतलसे लेकर ऊपर तक समूचे पेड़को लील लिया था—तना, शाखा-प्रशाखाएँ, टहनी-फुनगी सब छिप गयी थीं—और स्वयं साँप भी गुंजलकके भीतर कहीं सिर छिपाकर सोया था—जैसे वहाँ न साँप था न पेड़, केवल एक गुँथी हुई विराट् गुंजलक—

और हाँ, उस गुंजलकके ऊपर, जैसे उसीसे निर्भर, एक अकेला पका हुआ लाल फल····

यवाने ज़ोरसे मुझे पकड़ लिया। मैंने एक हाथसे उसे सँभालते हुए जाना, वह काँप रही है, और उसके भीतर कुछ बड़े ज़ोरसे धक्-धक् कर रहा है।

मैंने हौसला दिलानेको कहा, "क्यों यवा, क्या है ?"

उत्तरमें वह और भी ज़ोरसे मेरे साथ चिपट गयी। मैंने फिर पूछा, "यवा, यवा, डरती हो ?"

उसने और भी चिपटकर कानके पास मुँह रखकर धीरेसे कहा, "साँप सोया है।"

मैं बोला, "तो फिर ?"

यवा फिर चुप हो गयी, मैंने देखा वह मेरे साथ अधिकाधिक चिपटती जा रही है, और उसके भीतर धक्-धक् द्रुततर होती जाकर जैसे मुझे भी भर रही है····मेरे रोएँ फिर खड़े होने लगे, पर डरसे नहीं, डरसे कदापि नहीं—किससे, यह मैं नहीं जानता !

मैंने कहा, "कहो यवा क्या है ?"

वह फिर चुप रही। मैंने फिर उसकी काँपती देह-लता, सकुची हुई मुद्रा और लाल होते चेहरेको देखते हुए, दूसरा हाथ उसके माथेपर रखते हुए पूछा, "मेरी वीरबहूटी, बता, क्या चाहती है ?"

उसने एक बार बड़े ज़ोरसे धक्से होकर कहा, "वह फल मुझे ला दोगे ?" और मुँह छिपा लिया।

मुझे नहीं समझ आया कि क्या कहूँ। न जाने कैसे मैंने एक हाथसे

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

यवाको पकड़े-ही-पकड़े दूसरा हाथ बढ़ाकर वह फल तोड़ लिया—शायद यवाके भीतरकी वह धक्-धक् मुझे धकेल गयी।

एकाएक साँप हिला। यवाने लपककर फलमें एक चाक दे मारा और शेष मेरे मुँहमें ठूँस दिया—साँपने जरा इधर-उधर सरककर सिर बाहरको निकाला—और साँपका कुण्ठित कर देनेवाला उन्मत्त अट्टहास सारे उद्यानमें गूँज गया....

"जो मैं स्वयं तुम्हें दे रहा था, वह तुमने मुझसे छिपाकर तोड़ खाया। छिपाकर, छिपकर, अलग होकर, तुम जो सब कुछ एक बताते हो, तुम मेरी झूठ-मूठकी नींदसे धोखा खा गये! अब तुम्हारी देहके भीतर मेरा लाल फल है, और तुम्हारी देहको मेरी यह गुंजलक बाँधेगी—बाँधेगी तुम्हारी नंगी देहको जो—तुम नंगे हो, नंगे! नंगे!"

क्या जिस समर्थ भावसे भरकर मैं वहाँ गया था वह भुलावा था? साँपने हमें धोखा भी दिया तो भी मैं समर्थ हूँ। मैं अपनी यवाको लेकर उस उद्यानसे बाहर चला आया हूँ। यहाँ केवल वीरान है, पेड़-फल-फूल नहीं हैं; लेकिन यहाँ साँप भी नहीं है। यहाँ केवल मैं हूँ और मेरी यवा है।

वहाँकी खुली हवामें बैठकर यवाने पूछा, "कैसा था फल?"

मैंने कहा, "यवा, सारी बात ऐसे हो गयी कि कुछ समझमें नहीं आया। तुम्हारी छातीके भीतरकी धक्-धक्ने न जाने मुझे कैसा कर दिया था।"

एकाएक मैंने देखा कि यद्यपि यवाने मेरी बातसे सहसा संकुचित होकर दोनों हाथोंसे अपनी छाती ढाँक ली है, तथापि वह मेरी बात नहीं सुन रही है। उसकी आँखें मुझपर नहीं जमी हैं, आकाशको तरफ़ देख रही हैं जिसका रंग कुछ गहरा हो गया है, नीचेकी ओर जाते हुए और लाल होते हुए आकाशके मुँहको शायद पहचाननेकी कोशिश कर रही हैं....

मैंने फिर कहा, "यवा, उस समय तुमने मुझे क्या कर दिया था?

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

कैसे कँपा दिया था—''

यवाने जैसे नहीं सुना। उसकी आँखें खुली थीं; पर वैसी ही दूरकी कुछ बात देख रही थीं, जैसी कभी-कभी काली रातके अँधेरेमें सोते-सोते दीखा करती हैं····

मैंने फिर पूछा, "यवा, क्या देख रही हो ?" वह धीरे-धीरे बोली, "मैं सोच रही थी, साँपकी गुंजलकमें बँधे हुए पेड़को कैसा लगता होगा···· अगर वैसी गुंजलक मुझपर लिपट जाये, मैं सारी जकड़ी जाऊँ, तो कैसा लगे ?" वह तनिक-सा काँप गयी, फिर बोली, "अच्छा बताओ तो, अगर तुम उसी तरह बाँहोंसे मुझे बाँधकर छा लो और मेरे बाल पकड़कर उनमें मुँह छिपा लो, तो कैसा लगे, बताओ तो ?" और वह काँपती-सी झूठ-मूठकी-सी हँसी हँस दी, मैंने सहमकर कहा, "दुर !"

और वह हाथ और बाँहोंसे मुँह और छाती ढँककर, सिमटकर मेरी ही आड़में हो ली और मेरी जाँघपर अपने लम्बे बाल फैलाकर सो गयी।

और वह सोयी है। दिन लाल हो रहा है। शीघ्र ही वह काला पड़ जायेगा, रात आ जायेगी, सब कुछ छिप जायेगा, हम भी छिप जायेंगे। दो नहीं रहेंगे, अलग नहीं रहेंगे, बिना आड़के भी अलग नहीं रहेंगे— मैं यवाके पास आऊँगा, बहुत पास, बहुत पास, बहुत पास, उससे एक···· और वहाँ कुछ नहीं होगा, साँप भी नहीं होगा, बनानेवाला भी नहीं होगा, हम भी इस मरुभूमिमें होंगे और हम एक होंगे····

[२]

यह क्या हो गया है ?

उस समय साँप नहीं देख रहा था, वह साँप जो सब कुछ जानता था; तब जो साँपका और हमारा बनानेवाला है वह भी नहीं देख रहा होगा; और अँधेरेमें हम भी एक दूसरेको नहीं देख सकते थे, यवा और मेरे बीचके भेदको नहीं देख सकते थे; तब छिपना हम किससे चाहते थे ?

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

यवा मेरी जाँघपर सिर रखे लेटी थी, मैं कोहनी टेके अध-लेटी मुद्रा में था। हम दोनों सोना चाहते थे, पर शरीर नहीं मानता था। न जाने हम दोनोंके भीतर क्या खूब जागरूक होकर धक्-धक् कर रहा था। और उसके दबावसे शरीर भी जैसे टूटते-से थे, थकित-चकित-क्लान्त-से होते थे पर फिर भी ढीलना नहीं चाहते थे, तने-ही-तने रहना चाहते थे, अशान्त, अश्लथ, खण्डित, असंकुचित, अपरावृत····और इसे न समझे हुए, न चाहे हुए दबावके नीचे मैं बहुत अकेला, बहुत ही छोटा और दयनीय-सा अपने को जान रहा था····

बहुत ही दयनीय, बहुत ही छोटा, बहुत ही अकेला····यवा मेरी जाँघ पर चुपचाप पड़ी थी, पर न जाने कैसे मैं अनुभव कर रहा था, उस रातकी निविड़, निरालोक, स्तब्धतामें मेरे साथ घनिष्ठ होकर भी वह जैसे अकेली अनुभव कर रही है, हम दोनों बिना बताये अलग-अलग अपनेको तुच्छ और अकेले समझते हुए कहीं छिप जाना चाहते हैं, समा जाना चाहते हैं—एक-दूसरेकी आँखोंसे नहीं, एक-दूसरेसे, तो सटकर किन्तु अन्य न जाने किस की आँखोंसे····

जैसे किसी अनदीखते साँपकी अनदीखती, अस्पृश्य गुंजलकमें हम दोनों बद्ध हों, और—

और मेरे मनमें रह-रहकर यवाकी काँपती हुई हँसीसे कही हुई बात गूँज जाती थी, "अगर वैसी गुंजलक मुझपर लिपट जाये, मैं सारी जकड़ी जाऊँ, तो कैसा लगे? अच्छा बताओ तो, अगर तुम उसी तरह बाँहोंसे मुझे बाँधकर छा लो और मेरे बाल पकड़कर उनमें मुँह छिपा लो, तो कैसा लगे बताओ तो?····"

कैसा लगे, बताओ तो···न जाने कैसा लगे, यवा, न जाने कैसा लगे···पर मैं तो बड़ा दयनीय, बहुत छोटा, बहुत अकेला हूँ और मैं छिप जाना चाहता हूँ न जाने किसकी आँखोंसे—मुझे अच्छा नहीं लगता····

मेरा शरीर सिहरकर तनिक-सा काँप गया। यवाने चौंककर आधो

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

उठकर भर्रायेसे स्वरमें कहा, "कैसा लगता है, आदम, बताओ तो?"

मेरे मनमें हुआ, यवा, इस मरुभूमिमें न वनस्पति है, न साँप है, न फल, शायद इन सबका बनानेवाला इस मरुभूमिमें नहीं है; यहाँ हैं केवल तुम और मैं और हमारा अकेलापन—और मैंने विवश-भावसे यवाको पास खींचकर घेरते हुए कहा, "तुम्हीं जानो, यवा, कैसा लगेगा, मैं तुम्हें बाँधे लेता हूँ इस गुंजलकमें—" और यवाने जैसे बिजलीकी तरह काँपकर सिमटते-सिमटते कहा, "हाँ बाँध लो मुझे, छा लो, पेड़की एक फुनगी तक न दीखे, केवल फल, केवल फल...."

और तब मेरे भीतर धक्-धक् करनेवाला वह 'कुछ' चीत्कार कर उठा, क्यों मैं दयनीय हूँ, क्यों मैं छोटा हूँ, क्यों मैं अकेला हूँ....इस मरुभूमिमें और कोई नहीं है, मैं ही गुंजलक हूँ, मैं ही साँप हूँ, मैं ही फल हूँ....और क्यों नहीं हूँ, मैं ही वह बनानेवाला हूँ जिसका नाम हम नहीं जानते—मैं!

और यवाके भीतरका धक्-धक् ताल देता हुआ बोला, "और मैं!" और एक लहर-सी मेरे ऊपर आयी, डुबा देनेवाली, घोंट देनेवाली, तहस-नहस करनेवाली, यह आकाशका जलता हुआ लाल फल और अन्य अनगिनत फल—जो कुछ मैं देखता और जानता हूँ सब कुछ—जैसे मुझे रौंदता हुआ और सींचता हुआ चला गया और यवाको बाँधे-छिपाये हुए मुझे लगा कि मैं ही बनानेवाला हूँ—

और तब—

नहीं, यवा, नहीं! हम नंगे हैं! नंगे हैं! और मैंने सहसा परे हटकर अपना मुँह जमीनमें छिपा लिया, जी होने लगा कि समूची देह उसीमें धँस जाये। और यवा भी मुँह फेरकर धीरे-धीरे रोने लगी........

[३]

यह जो मेरे भीतर और यवाके भीतर निरन्तर धक्-धक् किया करता है, क्या यही उस बनानेवालेके पैरकी प्रतिकृति वह खोखल नहीं है

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

जिससे कन्दराका बनानेवाला पहचाना जाता है? साँपके आगे मेरी हार हुई है, लेकिन मैं जानता हूँ कि साँपने झूठ कहा था; मैं जानता हूँ कि बनानेवाला एक है और निश्चय है···उसकी छाया भी मेरे भीतर है और यवाके भीतर, और निस्सन्देह उस अनिष्ट साँपके भीतर···

लेकिन यह यवामें क्या नयी बात प्रकट हुई है? मेरे और यवाके, बनानेवालेके और उसके प्रतिस्पर्धी साँपके बीच यह एक नया डर और नया आग्रह कैसा देखता हूँ, जो यवाकी आँखोंमें काँपा करता है?

यवा, सच बताओ, मेरे और तुम्हारे, साँपके और सबके नियन्ताके बीच यह चीज़ क्या है जिसे तुम जानती हो और हम नहीं? बताओ, तुम्हारा यह डर और चिन्तित उत्कण्ठा कैसी है? किसके लिए तुम कोमलतासे भरा करती हो, किसके लिए तुम मुझे भूल-सी जाती हो, पहचानती नहीं हो, किसके लिए तुम्हारी आँखें सर्दीकी बरसातके बादकी-सी धुन्धसे भरकर तैरने-सी लगती हैं? बताओ मुझे, तुम्हें क्या हो गया है····

क्या मैंने तुम्हें क्लेश दिया है? पीड़ा पहुँचायी है? लेकिन क्या वैसा मैंने चाहा है? इस अनिष्टकर साँपकी देखादेखी मैंने तुम्हें गुंजलकमें बाँधना चाहा था अवश्य, और उससे हम दोनों स्तम्भित हुए थे अवश्य, पर वह तो तुम्हींने जानना चाहा था; और फिर तब तो तुम ऐसी बदली भी नहीं थीं····

यवा, बताओ मुझे वह अन्य कौन है····

मैं जैसे बदल रहा हूँ। कुछ और ही होता जा रहा हूँ। मैं नहीं जानता कि क्या बदल रहा है; पर कुछ फ़र्क हो गया है ज़रूर। पहलेकी तरह भागना-दौड़ना और यवाके साथ ऊधम करना अब उतना नहीं सुहाता, और यवामें भी जैसे उसका उतना आग्रह नहीं है। अब मुझे यही अच्छा लगता है कि यवाके आस-पास कहीं निकट ही रहूँ, भूख होनेके

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

समय यवाको लेकर घूमनेके बजाय वहींपर खानेको फल-फूल ले आऊँ; यवाके लिए एक बड़ी-सी कन्दरा बना दूँ और उसके आस-पास फलके पौधे लगा दूँ जिससे दूर जाना ही न पड़े···· और यवा भी मानो यही चाहती है, जैसे कन्दराके बननेमें उसका मुझसे भी अधिक आग्रह है—वह उसके भीतर बैठकर दिनमें रातके सपने देखना चाहती है····

वही तो शायद सर्दीकी धुन्धकी तरह उसकी आँखोंमें छाया और जाया करते हैं, जमा और घुला करते हैं···पर क्या चीज़ है वह जिसकी माँग उस धुन्धके पीछे यवाकी आँखोंमें झलक जाया करती है, कौन है वह मेरे अतिरिक्त जिसकी चाह यवा करती जान पड़ती है····

अकसर बादल छाये रहते हैं, कभी-कभी पानी भी बरसा करता है। यवा अनमनो-सी कन्दरामें पड़ी रहती है, और मैं अनमना-सा आकाशकी ओर देखा करता हूँ। कभी बादल घने होकर काले पड़ जाते हैं, कभी छितरा कर उजले हो जाते हैं, और थोड़ी-सी धूप भी चमक जाती है। समझ नहीं आता कि मेरे इस अपने दो जनोंके उद्यानपर क्या बदली छा गयी है जो हम ऐसे हो गये हैं। यवा मुझे अब भी उतनी ही अच्छी और अपनी लगती है; वह भी शान्त विश्वाससे आकर मेरे द्वारा सहलाये जाने के लिए अपनी ग्रीवा झुकाकर बैठ जाया करती है; फिर भी जैसे उसकी आँखोंकी उस धुन्धमें अस्पष्ट-सा दीख पड़नेवाला आकार हर समय हमारे बीचमें बना रहता है····

और कभी यवा एकाएक थकी और खिन्न हो जाती है, कभी उसका जी कैसा होने लगता है, कभी उसके पीड़ा होने लगती है····मुझे समझ नहीं आता कि मैं क्या करूँ कि वह फिर पहले-जैसी हो जाये····मुझे कुछ भी समझ नहीं आता, कुछ भी अच्छा नहीं लगता····

ओ तू—मेरे और यवाके बनानेवाले, मुझे बता कि क्या करूँ, यवाको कैसे सान्त्वना दूँ, कैसे शान्ति पहुँचाऊँ···मुझे बता, कैसे उसका दर्द दूर

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

हो, कैसे वह उठे, कैसे वह मुझे जाने....

यवा भीतर बैठी है और रो रही है। मैं उसे बाहर लाना चाहता हूँ, धूपमें बिठाना चाहता हूँ, कोई बूटी खिलाना चाहता हूँ जिससे उसे कुछ चैन हो, पर वह निकलती नहीं, उसे कन्दराका अँधेरा और एकान्त ही पसन्द है, वहींकी गीली मिट्टी कुरेद कर कभी-कभी वह खा लेती है, यही उसे अच्छा लगता है....मुझसे सहा नहीं जाता यह, मेरा जी न जाने कैसा होता है, पर वह मेरा पास रहना भी नहीं सह सकती, वह मुझे अपनेसे दूर रखना चाहती है, वह कन्दराके अन्धकारमें मेरी भी दृष्टिसे छिपना चाहती है—बल्कि मेरी ही दृष्टिसे....

उफ़्—कुछ समझ नहीं आता....

ओ तू—मेरे और यवाके बनानेवाले, मुझे बता कि मैं क्या करूँ....यहाँ बाहर बेबस और अकेला बैठकर बादलके टुकड़े गिननेसे तो कुछ नहीं होगा; बता कि उसके अकेलेपनमें और उस वेदनामें मैं कैसे काम आऊँ....

अँधेरेमें शायद मैं सो गया था।

एकाएक एक बड़ी भेदक चीख सुनकर मैं उठकर भीतर कन्दरामें दौड़नेको हुआ; किन्तु क्या यह चीख यवाकी थी ? वैसी चीख़ तो मैंने यवा के मुँहसे कभी नहीं सुनी थी....क्षण ही भर बाद वह फिर आयी—नहीं यह यवाकी नहीं हो सकती...एक बार और—हाँ, यह यवाकी ही पुकार है शायद—

यवाने सहसा धीमे, दर्द-भरे स्वरमें पुकारा, "आदम !" मैं दौड़कर भीतर गया और स्तम्भित खड़ा रह गया। यवाने सिमटकर मुँह फेरते हुए सकुचाये-से स्वरमें कहा, "आदम, यह क्या हो गया है...."

मैं समझा नहीं, लेकिन एकाएक मैं जान गया, साँप झूठा है, झूठा है, झूठा है, मेरे भीतर धक्-धक् करनेवाली शक्ति ही, सच है, बनानेवाली है; और एकाएक मैं इस सब कुछके बनानेवालेका नाम भी जान गया जो

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

साँप कहता था कोई जान ही नहीं सकता क्योंकि वह है नहीं—स्रष्टा ! मैंने जान लिया है कि मैं ही स्रष्टा हूँ····और मैंने पुकार कर कहा, "यवा, ठहरो, मैं जान गया हूँ कि स्रष्टाको छिपाकर ही जिया जा सकता है, सबसे छिपकर ही उससे मिलना सम्भव है····"

मैं एकाएक बाहर दौड़ गया, अँधेरेमें ही मैंने सेमलका पेड़ खोजकर उसके ढेरसे फूल तोड़कर एक लताकी छालमें गूँथकर बाँध लिये; लौटकर वह आवरण यवाके और उसकी छातीपर चिपटकर पड़े हुए मेरे प्रतिरूप एक अत्यन्त छोटे-से आदमके ऊपर ओढ़ा दिया ।

यवाने सिहरकर कहा, "हाँ, मेरे आदम, इसी तरह गुंजलकसे मुझे बाँध दो, छा लो समूचे पेड़को, कि कुछ भी न दीखे—एक फुनगी तक नहीं । केवल फल—केवल फल····"

और छातीसे मेरी सृष्टिको चिपटाये हुए और सब तरफ़से आवृत यवा की हँसीसे चमक गये दाँत देखकर मैंने सदाके लिए जान लिया कि साँप झूठा है; कि स्रष्टा है, कि एकता है····

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

वसन्त

मधुर कण्ठवाली एक स्त्री, जो गाती हुई प्रवेश करती है। उसका स्वर आजकी सिनेमा आर्टिस्टका सधा-बँधा स्वर नहीं है, जो 'प्रीफेब' सिमेण्टकी चौरस सिल्लीकी तरह नपा-खिचा मगर बिलकुल ठस होता है, यानी जो होता है उससे अधिक कुछ नहीं होता—सब कुछ सामने है और जो सामने नहीं है वह हुई नहीं—बल्कि सामने भी क्या है? एक ठप्पेकी छाप। उसका स्वर बिल्लौरकी तरह पारदर्शी है, जिसके भीतर रंगीन कहानियाँ दीखती हैं, आगे और पीछेकी कहानियाँ उजली और फीकी छायाएँ, और सब पारदर्शी····जैसे चन्द्रकान्तमणिके अन्दर चाँदनी दूधिया ओस-सी जम गयी हो।

पहला वसन्त, जिसका स्वर एक हँसते युवकका स्वर है, जो जब बोलता है तो साथ-साथ कई बाँसुरियाँ बज उठती हैं, बड़ी द्रुत लयसे मानो उनका पलातक संगीत पकड़में तो आनेका नहीं, उसके पीछे दौड़ना भी व्यर्थ है, हाँ, कोई अपनी भावनाएँ भी उसके साथ-साथ छोड़ दे तो छोड़ दे।

दूसरा वसन्त, जैसे अनुभवोंकी दोहर ओढ़े भारी पैरोंसे चलनेवाला, भारी गलेसे बोलनेवाला अग्रज, उसका धीमा गुरु-स्वर मानो इस राजका मन्द्र एकस्वर है, और प्रत्येक शब्दको तोल-तोलकर, श्रोताकी आत्मामें उसे बैठा देता हुआ-सा बोलता है।

स्त्री गाती है—

"फूल कांचनार के
प्रतीक मेरे प्यार के
प्रार्थना-सी अर्धस्फुट काँपती रहे कली

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

पत्तियों का सम्पुट, निवेदिता ज्यों अंजली
आये फिर दिन मनुहार के, दुलार के···
फूल कांचनार के।"

तब बाँसुरीका तीखा स्वर द्रुत लयपर दौड़ता हुआ आता है और तुरन्त ही खो जाता है।

स्त्री : "अरे कौन ?"

पहला वसन्त : "मैं वसन्त।" फिर बाँसुरीका स्वर।

स्त्री : "कौन वसन्त ?"

वसन्त १ : "यह भी बताना होगा ? सुनो····"

फिर द्रुत लयपर बाँसुरी जिससे प्राण ललक उठे, लेकिन सुनते-सुनते उसका स्वर खो जाता है।

वसन्त १ : "सुना ? अब पहचानती हो ?"

स्त्री : "अम्-म्-म्····"

वसन्त १ : "मैं वह हूँ जो मलय समीर के हर झोंकेमें आकर तुम्हारी अलकोंको सहला जाता है। सरसोंके फूलमें मेरा ही रंग खिलता है, आम्र-मंजरीमें मेरा ही आह्लाद उमँगता है। मैं कोयलके स्वरसे तुम्हें—तुम्हें क्यों, प्राणिमात्रको—पुकारता हूँ कि देखो, अब समय बदल गया। दिन भी अपनी निरन्तर सिकुड़न छोड़कर साहसपूर्वक बढ़ने लगा। जिस सूर्यसे जीवमात्र और सब वनस्पतियाँ शक्ति पाती हैं, वह स्वयं इतने दिनोंकी निस्तेज क्लान्तिके बाद फिर दीप्त होने लगा। केवल बाहर ही नहीं, तुम्हारे शरीरकी शिरा-शिरामें, तुम्हारे अंगोंके स्फुरणमें, तुम्हारे मनके उत्साहमें मेरा स्वर बोलता है····"

फिर वही बाँसुरीका स्वर, मानो निहोरे करता हुआ, वैसी ही पहले वसन्तकी आवाज़ मानो उसकी मनुहार सुननी ही पड़ेगी, उससे कोई बचकर निकल जायेगा तो कैसे। धीरे-धीरे, प्राणोंको आविष्ट करता हुआ-सा, वह गाता है :

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

"सुनो सखी, सुनो बन्धु !
प्यार ही में यौवन है, यौवन में प्यार ।
जागो, जागो,
जागो सखि वसन्त आ गया !"

और स्त्री भी विवश साथ-साथ गुनगुनाने लगती है :

"वसन्त आ गया—
आज डाल-डाल पै आनन्द छा गया···"

तब, पीछे कहीं, धीरे-धीरे इसराज मन्द्र बज उठता है, पहले बहुत धीरे, फिर क्रमशः स्पष्ट, मानो उसे अब अपनी बातपर विश्वास हो आया हो····इतना कि अब वह हर किसीको अपनी बात मनवाकर ही छोड़ेगा। स्त्री सहसा चौंक पड़ती है ।

स्त्री : "कौन ?"

दूसरा वसन्त : "मैं वसन्त ।"

स्त्री : "वसन्त तुम ? वसन्त तो मेरे साथ गा रहा है। सुनो सखी, सुनो बन्धु····"

वसन्त २ : "हाँ, ठीक तो है, सुनो सखी, सुनो बन्धु ! वसन्त ज़रूर आ गया। तुम पूछती हो, कौन वसन्त ? क्या तुमने लक्ष्य नहीं किया कि सवेरा जल्दी होने लगा, तुम्हें काम जल्दी आरम्भ करना पड़ता है ? क्या तुमने नहीं देखा कि पिछली बरसातमें वनस्पतियोंने जो हरी चादर ओढ़ ली थी, शरद्ने जिसमें शेफालीकी बूटियाँ काढ़ी थीं, जो जाड़ोंमें हरे रेशमी वसनसे बदलकर लाल और भूरा दुशाला बन गयी थी, वही आज जीर्ण-शीर्ण होकर, तार-तार होकर झर रही है ? वह पतझड़ मैं हूँ। जो सनसनाती हुई ठण्डी हवा वनस्पतियोंके सब आवरण उड़ाये ले जा रही है, वह मैं हूँ। सवेरे-सवेरे झाड़ूकी मारसे उड़ी हुई धूल मैं हूँ। धूलका झक्कड़ मैं हूँ। सुबहकी धुन्ध मैं हूँ। शामको क्षितिजपर जमा हुआ धुआँ मैं हूँ। बाहर ही नहीं, मैं भीतरकी हताशा हूँ कि 'एक वर्ष और गुज़र गया !' मैं

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

आतंक हूँ आनेवाले ग्रीष्मकी सनसनाती हुई लूके फूत्कारोंसे उड़ती हुई गरम रेतका....''

स्त्री : "ओह ! ओह !''

द्रुत लयपर बाँसुरी और विलम्बितपर इसराज बारी-बारीसे बजने लगते हैं। एक स्वर उभरता है और डूबता है, फिर दूसरा उभरता है और पहला डूब जाता है। ये स्वर हैं, या कि भावोंकी धूप-छाँह ही स्त्रीके मुँह-पर खेल कर रही है ?

वसन्त १ : "मैं तुम्हारे जीवनका स्वप्न हूँ। मैं तुम्हारा भविष्य, भविष्यकी आशा हूँ।''

वसन्त २ : "मैं भी तुम्हारे जीवनका स्वप्न हूँ। मैं तुम्हारा अतीत हूँ और अतीतका अनुभव। क्या आनेवाले कलकी आशा ही स्वप्न होती है, क्या जो आशाएँ बीत गयी हैं वे स्वप्न नहीं हैं ?''

वसन्त १ : "मैं वह हूँ जो तुम हो सकती थीं—''

वसन्त २ : "मैं वह हूँ, जो तुम हो।''

वसन्त १ : "मैं वह हूँ जो तुम हो सकती हो....''

वसन्त २ : "थीं भी, और होंगी भी, तो फिर आज क्यों नहीं हो ? [तिरस्कारपूर्वक] 'सुनो सखी, सुनो बन्धु ?' अगर बहरा होना ही सुनना है, तो ज़रूर सुनो !''

फिर इसराज और बाँसुरी, विलम्बित और द्रुत; कौन पहचाने कि कौन स्वर उभरता है और कौन डूबता; क्योंकि फीकी धूप ही हलकी छाँह है, और फीकी छाँह ही नयी चमक, और....धीरे-धीरे दोनों ही लीन हो जाते हैं, मानो अस्तित्वके उस तलपरसे अब उतर आना होगा जिसपर वसन्त—पहला और दूसरा वसन्त—मूर्त्त होकर, वाणीयुक्त होकर सामने आते हैं। इस निचले स्तरपर तो वसन्तोंके संगीतमय सुर नहीं, बरतनोंकी खनखनाहट है....नये मँजते और धुलते हुए बरतन, धोकर ताकमें रखे जाते हुए बरतन। यह दूसरा ही दृश्य है, और स्त्रीकी बात मानो स्वगत

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

भाषण है ।

स्त्री : "मैं वह हूँ जो तू है । मैं वह हूँ जो तू हो सकती है—मैं वह हूँ जो तू थी । मैं वह हूँ जो तू होगी—लेकिन मैं क्या थी—क्या हूँगी.... क्या हूँ ? शायद उसे नहीं सोचना चाहिए । नहीं तो इतने वर्षोंसे इसी एक प्रश्नका उत्तर देना क्यों टालती आयी हूँ ? क्या थी—फूल, या मिट्टी ? क्या हूँगी—मिट्टी, या फूल ? एक बार—एक बार सोचा था....लेकिन क्या सचमुच था ? इतनी पुरानी बात लगती है कि सन्देह होता है.... लेकिन जल्दी करूँ, पानी चला जायेगा ।"

और ठीक उसी समय स्त्रीका पति प्रवेश करता है । पति-जैसा ही उसका स्वर है; साधारण, न रूखा न मीठा; जिसमें कुछ अपनापा भी है, कुछ उदासीनता भी; लेकिन क्या अपनापा और उदासीनता प्यारके परिचयके ही दो पहलू नहीं हैं ?

पति : "मालती ।"

स्त्री : "जी ।"

पति : [चिढ़ाता हुआ] "अगर मैं बाहर ही खड़ा रहता, तो सोचता कि न जाने कौन तुमसे बातें कर रहा है । यह क्या पता था कि आप जूठे बरतनोंसे भी बातें कर सकती हैं ।"

स्त्री : "नहीं....हाँ...."

पति : "यानी इतनी तन्मय होकर बात कर रही थीं कि तुम्हें मालूम ही नहीं ? कौन था आखिर वह मन-मोहन सुध-बिसरावन....कौन आया था ?"

स्त्री : [अनमनी-सी] "वसन्त ।"

पति : [न समझते हुए] "कौन वसन्त ?"

स्त्री : "यह तो मैं नहीं जानती ? [धीरे-धीरे] वह कहता था, मैं मलय-समीरमें रहता हूँ और कोयलके स्वरसे पुकारता हूँ । कहता था, वह सरसोंके फूलके रंगमें है । [कुछ रुककर, और भी अनमनी, खोयी-सी ।]

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

नहीं, वह कहता था, मैं पतझड़ हूँ। और धूलका झक्कड़। और निराशा।"

पति : "मालती, मालूम होता है तुम बहुत थक गयी हो। क्या करूँ, सोचता तो बहुत दिनोंसे हूँ कि कुछ छुट्टी लेकर घूम आयें, लेकिन मौक़ा ही नहीं बनता। न छुट्टी ही मिलती है, न कोई सहूलियत—"

स्त्री : [**सहानुभूतिसे तिलमिलाकर**] "रहने भी दो, मुझे क्या करनी है छुट्टी? थकते तो मर्द हैं, स्त्री कभी नहीं थकती है। काम और विश्राम—यह मर्दकी ईजाद है। स्त्रियाँ विश्राम नहीं करतीं, क्योंकि वे शायद काम नहीं करतीं। वे कुछ करती ही नहीं····वे शायद सिर्फ़ होती ही हैं। बालिकासे किशोरी, कुमारीसे पत्नी, बेटीसे माँ, एक निस्संग आत्मासे परिगृहीत कुनबा—वे निरन्तर कुछ-न-कुछ होती ही चलती हैं। क्योंकि वे हैं कुछ नहीं, वे केवल होते चलनेका, बननेमें नष्ट होते चलनेका, या कि कह लो नष्ट होते रहनेमें बननेका, दूसरा नाम हैं। वे भविष्य हैं जो कि पीछे छूट गया, एक अतीत हैं जो कि आगे मुँह बाये बैठा है····"

पति : [**कुछ त्रस्त स्वरमें**] "मालती, क्या तुम सुखी नहीं हो? [पीड़ित-सा] लेकिन शायद मेरा यह पूछना भी अन्याय है। मैं तुम्हें कुछ दे ही तो नहीं सका। यह तो नहीं कि मैंने चाहा नहीं। लेकिन चाहना ही तो काफ़ी नहीं है, सकत भी तो चाहिए। [**सहसा नये विचार के उत्साहसे**] चलो, कहीं घूम आयें—या चलो सिनेमा चलें—"

स्त्री : "उंहुक्। सिनेमामें मेरा दम घुटता है।"

पति : "तो चलो, कहीं बाग़में चलें। या बाहर खेतोंकी तरफ़। आजकल नदीकी कछारपर सरसों ख़ूब फूल रही है। बीच-बीचमें कहीं अलसीके नीले फूल—"

नेपथ्यमें कहीं धीरे-धीरे वही बाँसुरी बजने लगती है। मानो स्मृति को जगाती हुई, मानो पुरानी बात दुहराती हुई।

स्त्री : [**मानो स्वगत**] "यह कहता था, सरसोंके फूलमें मेरा ही

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

रंग खिलता है । और आमके बौर में....''

पति : ''क्या गुनगुना रही हो, मालती ? तुम्हें याद है, उस बार जब मैं....''

स्त्री : ''कब ?''

पति : ''बनो मत । उस बार जब गौनेके बाद तुम आयी ही थीं, और मैंने कहा था कि....''

स्त्री : [**मानो स्तब्ध-सी और न पसीजती हुई**] ''मुझे कुछ याद नहीं है । मैं तो सोचती हूँ, यह याद भी मर्दोंकी ईजाद है । उनके लिए भूलना इतना सहज सत्य जो है ।''

एक बालक....उनका बालक....उसका बालक । बालकोंके स्वरका वर्णन हो भी सकता हो तो नहीं करना चाहिए, उसमें जो अकल्पित सम्भावनाएँ मचलती हैं, उन्हें बाँध देनेका यत्न क्यों किया जाये ? वह निकट आ रहा है....और वे सम्भावनाएँ मानो एक झलक-सी दे जाती हैं....

बालक : ''माँ—माँ !''

पति : ''यह लो आ गया ऊधमी ! अच्छा तो तुम जल्दीसे उठो, मैं अभी-अभी तैयार हो जाता हूँ—हाँ ?''

बालक : ''माँ—माँ !''

स्त्री : ''क्या है, बेटा ?''

बालक : ''माँ, सब लड़के कह रहे हैं कि आज वसन्त है, आज पतंग उड़ानेका नियम है ।''

स्त्री : ''हुँ: नियम है । पतंग नहीं उड़ाया करते अच्छे लड़के ।''

बालक : ''क्यों, माँ ? मुझे तो पतंग बहुत अच्छी लगती है....''

स्त्री : ''न ! उड़ जानेवाली चीज़ोंको प्यार नहीं करना चाहिए । छोड़कर चली जाती हैं तो दुःख होता है ।''

बालक : ''वह उड़ थोड़े ही जायेगी ? मैं फिर उतार लूँगा—मेरे पास ही तो रहेगी....''

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

स्त्री : "मैं पतंग होती तो उड़ जाती, दूर—दूर। फिर कभी वापस न आती।"

बालक : [आहत] "हमें छोड़ जाती माँ ?"

स्त्री : "तो क्या हुआ ? तुम तो अपनी पतंगमें मस्त रहते, तुम्हें ध्यान ही न आता।"

बालक : "नहीं माँ, मुझे तो बहुत अच्छी लगती हो। मुझे नहीं चाहिए पतंग-वतंग, मैं तुम्हारे पास बैठूँगा।"

स्त्री : "अरे छोड़ मुझे····दंगा न कर। जा, पिताजीके साथ जाकर बग़ीचा देख आ।"

बालक : "वहाँ क्या है ?"

स्त्री : [जैसे याद करती हुई] "है क्या ? वहाँ सुन्दर फूल हँसते हैं···वहाँ कोयल कूकती है····वही तो वसन्त है।"

बालक : [मान-भरा] हमें नहीं चाहिए वहाँका वसन्त। हमारा वसन्त तो तुम हो, माँ····तुम हँसती क्यों नहीं ? अरे, तुम तो उदास हो गयीं····"

स्त्री : [सोचती हुई] "यह तो उन दोनोंने नहीं कहा था····वह कहता था मैं आशा हूँ, वसन्त मैं हूँ। वह कहता था मैं अनुभव हूँ, वसन्त मैं हूँ। मुझे तो किसीने नहीं कहा कि वसन्त तुम हो····फूलोंका खिलना भी और पतझड़ भी, समीर भी और धूलका झक्कड़ भी····"

बालक : "माँ—किसने कहा था, माँ ?"

स्त्री : "किसीने नहीं ·बेटा, मेरी चेतनाने। तू तो केवल पतंगका वसन्त जानता है, मगर मुझमें बहुतसे वसन्त हैं, कुछ मीठे, कुछ फीके, कुछ हँसते, कुछ उदास।"

बालक : "उन सबमें सबसे अच्छा कौन-सा है, माँ ?"

स्त्री : [सहसा सुस्थ होकर] "सबसे अच्छा वसन्त तू है, बेटा। तू हँसता रह, फूल-फल····"

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

और अब नेपथ्यमें बाँसुरी क्रमशः स्पष्ट होने लगती है। मानो अब वह स्पष्ट हो जायेगी तो फिर मन्द नहीं पड़ेगी, फिर बजती ही रहेगी, उसमें नया धीरज जो आ गया है।

बालक : "वाह। मैं कोई पौधा हूँ...."

स्त्री : "हाँ, यह तू क्या जाने। तू मेरी सारी आशाओंका, सारे अनुभवका पौधा है, मेरे युगों-युगोंका वसन्त।"

बाँसुरी बिलकुल स्पष्ट बजने लगती है, अपने आत्म-विश्वाससे वातावरणको गुँजाती हुई, उसके प्राणोंमें अपने स्वरको बसा देती हुई। और बाँसुरीके साथ-साथ गानके शब्द भी स्पष्ट होने लगते हैं।

"किंशुकों की आरती सजा के बन गयी वधू वनस्थली।
डाल-डाल रङ्ग छा गया।
जागो, जागो
जागो सखि वसन्त आ गया!"

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

हीली-बोन्की बत्तख़ें

हीली-बोन्ने बुहारी देनेका ब्रुश पिछवाड़ेके बरामदेके जंगलेसे टेककर रखा और पीठ सीधी करके खड़ी हो गयी। उसकी थकी-थकी-सी आँखें पिछवाड़ेके गीली लाल मिट्टीके काई-ढके किन्तु साफ़ फ़र्शपर टिक गयीं। काई जैसे लाल मिट्टीको दीखने देकर भी एक चिकनी झिल्लीसे उसे छाये हुए थी; वैसे ही हीली-बोन्की आँखोंपर भी कुछ छा गया जिसके पीछे आँगनके चारों ओर तरतीबसे सजे हुए जरेनियमके गमलों, दो रंगीन बेंतकी कुरसियों और रस्सीपर टँगे हुए तीन-चार धुले हुए कपड़ोंकी प्रतिच्छवि रह-कर भी न रही। और कोई और गहरे देखता तो अनुभव करता कि सहसा उसके मनपर भी कुछ शिथिल और तन्द्रामय छा गया है, जिससे उसकी इन्द्रियोंकी ग्रहणशीलता तो ज्योंकी-त्यों रही है पर गृहीत छापको मन तक पहुँचाने और मनको उद्वेलित करनेकी प्रणालियाँ रुद्र ही गयी हैं····

किन्तु हठात् वह चेहरेका चिकना बुझा हुआ भाव खुरदुरा होकर तन आया; इन्द्रियाँ सजग हुईं, दृष्टि और चेतना केन्द्रित, प्रेरणा प्रबल—हीली-बोन्के मुँहसे एक हलकी-सी चीख निकली और वह बरामदेसे दौड़कर आँगन पार करके एक ओर बने हुए छोटे-से बाड़ेपर पहुँची; वहाँ उसने बाड़ेका किवाड़ खोला और फिर ठिठक गयी। एक और हलकी-सी चीख़ उसके मुँहसे निकल रही थी, पर वह अध-बीचमें ही रव-हीन होकर एक सिसकती-सी लम्बी साँस बन गयी।

पिछवाड़ेसे कुछ ऊपरकी तरफ़ पहाड़ी रास्ता था; उसपर चढ़ते हुए व्यक्तिने वह अनोखी चीख सुनी और रुक गया। मुड़कर उसने हीली-बोन्की ओर देखा, कुछ झिझका, फिर ज़रा बढ़कर बाड़ेके बीचके छोटे-से बाँसके फाटकको ठेलता हुआ भीतर आया और विनीत भावसे बोला,

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

"खू-ब्लाई !"

हीली-बोन् चौंकी। 'खू-ब्लाई' खासिया भाषाका 'राम-राम' है, किन्तु यह उच्चारण परदेसी है और स्वर अपरिचित—यह व्यक्ति कौन है? फिर भी खासिया जातिके सुलभ आत्म-विश्वासके साथ तुरन्त सँभलकर और मुसकराकर उसने उत्तर दिया, "खू-ब्लाई !" और क्षण-भर रुककर फिर कुछ प्रश्न-सूचक स्वरमें कहा, "आइए ? आइए ?"

आगन्तुकने पूछा, "मैं आपकी कुछ मदद कर सकता हूँ ? अभी चलते-चलते—शायद कुछ—"

"नहीं, वह कुछ नहीं"—कहते-कहते हीलीका चेहरा फिर उदास हो आया। "अच्छा, आइए, देखिए।"

बाड़ेकी एक ओर आठ-दस बत्तखें थीं। बीचोबीच फ़र्श रक्तसे स्याह हो रहा था और आस-पास बहुत-से पंख बिखर रहे थे। फ़र्शपर जहाँ-तहाँ पंजों और नाखूनोंकी छापें थीं।

आगन्तुकने कहा, "लोमड़ी।"

"हाँ। यह चौथी बार है। इतने बरसोंमें कभी ऐसा नहीं हुआ था; पर अब दूसरे-तीसरे दिन एक-आध बत्तख मारी जाती है और कुछ उपाय नहीं सूझता। मेरी बत्तखोंपर सारे मण्डलके गाँव ईर्ष्या करते थे—स्वयं 'सियेम'के पास भी ऐसा बढ़िया झुण्ड नहीं था! पर अब—" हीली चुप हो गयी।

आगन्तुक भी थोड़ी देर चुपचाप फ़र्शको और बत्तखोंको देखता रहा। फिर उसने एक बार सिरसे पैर तक हीलीको देखा और मानो कुछ सोचने लगा। फिर जैसे निर्णय करता हुआ बोला, "आप ढिठाई न समझें तो एक बात कहूँ ?"

"कहिए।"

"मैं यहाँ छुट्टीपर आया हूँ और कुछ दिनों नाङ्-थ्लेम ठहरना चाहता हूँ। शिकारका मुझे शौक़ है। अगर आप इजाजत दें तो मैं इस

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

डाकूकी घातमें बैठूँ—" फिर हीलीकी मुद्रा देखकर जल्दीसे, "नहीं, मुझे कोई कष्ट नहीं होगा, मैं तो ऐसा मौक़ा चाहता हूँ। आपके पहाड़ बहुत सुन्दर हैं, लेकिन लड़ाईसे लौटे हुए सिपाहीको छुट्टीमें कुछ शग़ल चाहिए।"

"आप ठहरे कहाँ हैं ?"

"बँगलेमें। कल आया था, पाँच-छह दिन रहूँगा। सवेरे-सवेरे घूमने निकला था, इधर ऊपर जा रहा था कि आपकी आवाज़ सुनी। आपका मकान बहुत साफ़ और सुन्दर है—"

हीलीने एक रूखी-सी मुसकानके साथ कहा, "हाँ, कोई कचरा फैलानेवाला जो नहीं है ! मैं यहाँ अकेली रहती हूँ।"

आगन्तुकने फिर हीलीको सिरसे पैर तक देखा। एक प्रश्न उसके चेहरेपर झलका, किन्तु हीलीकी शालीन और अपनेमें सिमटी-सी मुद्राने जैसे उसे पूछनेका साहस नहीं दिया। उसने बात बदलते हुए कहा, "तो आपकी इजाज़त है न ? मैं रातको बन्दूक़ लेकर आऊँगा। अभी इधर आस-पास देख लूँ कि कैसी जगह है और किधरसे किधर गोली चलायी जा सकती है।"

"आप शौक़िया आते हैं तो ज़रूर आइए। मैं इधरको खुलनेवाला कमरा आपको दे सकती हूँ—" कहकर उसने घरकी ओर इशारा किया।

"नहीं नहीं, मैं बरामदेमें बैठ लूँगा—"

"यह कैसे हो सकता है ? रातको आँधी-बारिश आती है। तभी तो मैं कुछ सुन नहीं सकी रात ! वैसे आप चाहें तो बरामदेमें आरामकुरसी भी डलवा दूँगी। कमरेमें सब सामान है।" हीली कमरेकी ओर बढ़ी, मानो कह रही हो, "देख लीजिए।"

"आपका नाम पूछ सकता हूँ ?"

"हीली-बोन् यिर्वा। मेरे पिता सियेमके दीवान थे।"

"मेरा नाम दयाल है—कैप्टेन दयाल। फ़ौजी इंजीनियर हूँ।"

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

"बड़ी खुशी हुई। आइए—अन्दर बैठेंगे ?"

"धन्यवाद—अभी नहीं। आपकी अनुमति हो तो शामको आऊँगा। खू-ब्लाई—"

हीली कुछ रुकते स्वरमें बोली, "खू-ब्लाई।" और बरामदेमें मुड़कर खड़ी हो गयी। कैप्टेन दयाल बाड़ेमें-से बाहर होकर रास्तेपर हो लिये और ऊपर चढ़ने लगे, जिधर नयी धूपमें चीड़की हरियाली दुरंगी हो रही थी और बीच-बीचमें बुरूसके गुच्छे-गुच्छे गहरे लाल फूल मानो कह रहे थे, पहाड़के भी हृदय है, जंगलके भी हृदय है....

[२]

दिनमें पहाड़की हरियाली काली दीखती है, ललाई आग-सी दीप्त; पर साँझके आलोकमें जैसे लाल ही पहले काला पड़ जाता है। हीली देख रही थी; बुरूसके वे इक्के-दुक्के गुच्छे न जाने कहाँ अन्धकार-लीन हो गये हैं, जब कि चीड़के वृक्षोंके आकार अभी एक-दूसरेसे अलग स्पष्ट पहचाने जा सकते हैं। क्यों रंग ही पहले बुझता है, फूल ही पहले ओझल होते हैं, जब कि परिपार्श्वकी एकरूपता बनी रहती है ?

हीलीका मन उदास होकर अपनेमें सिमट आया। सामने फैला हुआ नाङ्-थ्लेमका पार्वतीय सौन्दर्य जैसे भाप बनकर उड़ गया; चीड़ और बुरूस, चट्टानें, पूर्व पुरुषों और स्त्रियोंकी खड़ी और पड़ी स्मारक शिलाएँ, घासकी टीलों-सी लहरें, दूर नीचे पहाड़ी नदीका ताम्र-मुकुर, मखमली चादरमें रेशमी डोरे-सी झलकती हुई पगडण्डी—सब मूर्त्त आकार पीछे हटकर तिरोहित हो गये। हीलीकी खुली आँखें भीतरकी ओरको ही देखने लगीं—जहाँ भावनाएँ ही साकार थीं, और अनुभूतियाँ ही मूर्त्त....

हीलीके पिता उस छोटे-से माण्डलिक राज्यके दीवान रहे थे। हीली तीन सन्तानोंमें सबसे बड़ी थी, और अपनी दोनों बहनोंकी अपेक्षा अधिक सुन्दर भी। खासियोंका जाति-संगठन स्त्री-प्रधान है; सामाजिक सत्ता स्त्रीके हाथोंमें है और वह अनुशासनमें चलती नहीं, अनुशासनको

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

चलाती हैं। हीली भी मानो नाङ्-थ्लेमकी अधिष्ठात्री थी। 'नाङ्-क्रेम'के नृत्योत्सवमें, जब सभी मण्डलोंके स्त्री-पुरुष खासिया जातिके अधिदेवता नगाधिपतिकी बलि देते थे और उसके मर्त्य प्रतिनिधि अपने 'सियेम'का अभिनन्दन करते थे, तब नृत्यमण्डलीमें हीली ही मौन सर्वसम्मतिसे नेत्री हो जाती थी, और स्त्री-समुदाय उसीका अनुसरण करता हुआ झूमता था, इधर और उधर, आगे और दायें और पीछे····नृत्यमें अंग-संचालनकी गति न द्रुत थी न विस्तीर्ण; लेकिन कम्पन ही सही, सिहरन ही सही, वह थी तो उसके पीछे-पीछे; सारा समुद्र उसकी अंग-भंगिमाके साथ लहरें लेता था····

एक नीरस-सी मुसकान हीलीके चेहरेपर दौड़ गयी। वह कई बरस पहलेकी बात थी····अब वह चौंतीसवाँ वर्ष बिता रही है; उसकी दोनों बहनें ब्याह करके अपने-अपने घर रहती हैं; पिता नहीं रहे और स्त्री-सत्ताके नियमके अनुसार उनकी सारी सम्पत्ति सबसे छोटी बहनको मिल गयी। हीलीके पास है यही एक कुटिया और छोटा-सा बग़ीचा—देखनेमें आधुनिक साहबी ढंगका बँगला, किन्तु उस काँच और परदोंके आडम्बरको सँभालनेवाली इमारत वास्तवमें क्या है? टीनकी चादरसे छूता हुआ चीड़का चौखटा, नरसलकी चटाईपर गारेका पलस्तर और चारों ओर जरेनियम, जो गमलेमें लगा लो तो फूल हैं, नहीं तो निरा जंगली बूटी····

यह कैसे हुआ कि वह, 'नाङ्-क्रेम'की रानी आज अपने चौंतीसवें वर्ष-में इस कुटीके जरेनियमके गमले सँवारती बैठी है, और अपने जीवनमें ही नहीं, अपने सारे गाँवमें अकेली है?

अभिमान? स्त्रीका क्या अभिमान? और अगर करे ही तो कनिष्ठा करे जो उत्तराधिकारिणी होती है—वह तो सबसे बड़ी थी, केवल उत्तरदायिनी! हीलीके ओठ एक विद्रूपकी हँसीसे कुटिल हो आये। युद्धकी अशान्तिके इन तीन-चार वर्षोंमें कितने ही अपरिचित चेहरे दीखे थे, अनोखे रूप; उल्लसित, उच्छ्वसित, लोलुप, गर्वित, याचक, पाप-संकुचित,

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

दर्प-स्फीत मुद्राएँ····और वह जानती थी कि इन चेहरों और मुद्राओं-के साथ उसके गाँवकी कई स्त्रियोंके सुख-दुख, तृप्ति और अशान्ति, वासना और वेदना, आकांक्षा और सन्ताप उलझ गये थे, यहाँतक कि वहाँके वातावरणमें एक पराया और दूषित तनाव आ गया था। किन्तु वह उससे अछूती ही रही थी। यह नहीं कि उसने इसके लिए कुछ उद्योग किया था या कि उसे गुमान था—नहीं, यह जैसे उसके निकट कभी यथार्थ ही नहीं हुआ था।

लोग कहते थे कि हीली सुन्दर है, पर स्त्री नहीं है। वह बाँबी क्या, जिसमें साँप नहीं बसता ?····हीलीकी आँखें सहसा और भी घनी हो आयीं—नहीं, इससे आगे वह नहीं सोचना चाहती ! व्यथा मरकर भी व्यथासे अन्य कुछ हो जाती है ? बिना साँपकी बाँबी—अपरूप, अनर्थक मिट्टीका ढूह ! यद्यपि, वह याद करना चाहती तो याद करनेको कुछ था—बहुत कुछ था—प्यार उसने पाया था और उसने सोचा भी था कि—

नहीं कुछ नहीं सोचा था। जो प्यार करता है, जो प्यार पाता है, वह क्या कुछ सोचता है ? सोच सब बादमें होता है, जब सोचनेको कुछ नहीं होता।

और अब वह बत्तखें पालती है। इतनी बड़ी, इतनी सुन्दर बत्तखें खासिया प्रदेशमें और नहीं हैं। उसे विशेष चिन्ता नहीं है, बत्तख़ोंके अण्डों-से इस युद्धकालमें चार-पाँच रुपये रोज़की आमदनी हो जाती है, और उसका ख़र्च ही क्या है ? वह अच्छी है, सुखी है, निश्चिन्त है—

लोमड़ी····किन्तु वह कुछ दिनकी बात है—उनका तो उपाय करना ही होगा। वह फ़ौजी अफ़सर ज़रूर उसे मार देता—नहीं तो कुछ दिन बाद थेङ्-क्यूके इधर आनेपर वह उसे कहेगी कि तीरसे मार दे या जाल लगा दे····कितनी दुष्ट होती है लोमड़ी—क्या रोज़ दो-एक बत्तख़ खा सकती हैं ? व्यर्थका नुक़सान—सभी जन्तु ज़रूरतसे ज़्यादा घेर लेते और नष्ट करते हैं—

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

बरामदेके काठके फ़र्शपर पैरोंकी चाप सुनकर उसका ध्यान टूटा। कैप्टेन दयालने एक छोटा-सा बेग नीचे रखते हुए कहा, "लीजिए, मैं आ गया।" और कन्धेसे बन्दूक़ उतारने लगे।

"आपका कमरा तैयार है। खाना खायेंगे?"

"धन्यवाद—नहीं। मैं खा आया। रात काटनेको कुछ ले भी आया बेगमें! मैं ज़रा मौक़ा देख लूँ, अभी आता हूँ। आपको नाहक तकलीफ़ दे रहा हूँ लेकिन—"

हीलीने व्यंग्यपूर्वक हँसकर कहा, "इस घरमें न सही, पर खासिया घरोंमें अकसर पलटनिया अफ़सर आते हैं—यह नहीं हो सकता कि आपको बिलकुल मालूम न हो।"

कैप्टेन दयाल खिसिया-से गये। फिर धीरे-धीरे बोले, "नीचेवालों ने हमेशा पहाड़वालोंके साथ अन्याय ही किया है। समझ लीजिए कि पातालवासी शैतान देवताओंसे बदला लेना चाहते हैं!"

"हम लोग मानते हैं कि पृथ्वी और आकाश पहले एक थे—पर दोनोंको जोड़नेवाली धमनी इनसानने काट दी। तबसे दोनों अलग हैं और पृथ्वीका घाव नहीं भरता।"

"ठीक तो है।"

कैप्टेन दयाल बाड़ेकी ओर चले गये! हीलीने भीतर आकर लैम्प जलाया और बरामदेमें लाकर रख दिया, फिर दूसरे कमरेमें चली गयी।

[२]

रातमें दो-अढ़ाई बजे बन्दूक़की 'धाँय!' सुनकर हीली जागी, और उसने सुना कि बरामदेमें कैप्टेन दयाल कुछ खटर-पटर कर रहे हैं। शब्दसे ही उसने जाना कि वह बाहर निकल गये हैं, और थोड़ी देर बाद लौट आये हैं। तब वह उठी नहीं; लोमड़ी ज़रूर मर गयी होगी और उसे सवेरे भी देखा जा सकता है, यह सोचकर फिर सो रही।

किन्तु पौ फटते-न-फटते वह फिर जागी। खासिया प्रदेशके बँगलोंकी

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

दीवारें असलमें तो केवल काठके परदे ही होते हैं, हीलीने जाना कि दूसरे कमरेमें कैप्टेन दयाल जानेकी तैयारी कर रहे हैं। तब वह भी जल्दीसे उठी, आग जलाकर चायका पानी रख, मुँह-हाथ धोकर बाहर निकली। क्षण-भर अनिश्चयके बाद वह बत्तखोंके बाड़ेकी तरफ़ जानेको ही थी कि कैप्टेन दयालने बाहर निकलते हुए कहा, "खू-ब्लाई, मिस यिर्वा; शिकार ज़ख्मी तो हो गया पर मिला नहीं, अब खोजमें जा रहा हूँ।"

"अच्छा ? कैसे पता लगा ?"

"ख़ूनकी निशानोंसे। ज़ख्म गहरा ही हुआ है—घसीटकर चलनेके निशान साफ़ दीखते थे। अबतक बचा नहीं होगा—देखना यही है कि कितनी दूर गया होगा।"

"मैं भी चलूँगी। उस डाकूको देखूँ तो—" कहकर हीली लपककर एक बड़ी 'डाओ' उठा लायी और चलनेको तैयार हो गयी।

ख़ूनके निशान चीड़के जंगलको छूकर एक ओर मुड़ गये, जिधर ढलाव था और आगे जरैंतको झाड़ियाँ, जिनके पीछे एक छोटा-सा झरना बहता था। हीलीने उसका जल कभी देखा नहीं था, केवल कल-कल शब्द ही सुना था—जरैंतका झुरमुट उसे बिलकुल छाये हुए था। निशान झुरमुट तक आकर लुप्त हो गये थे।

कैप्टेन दयालने कहा, "इसके अन्दर घुसना पड़ेगा। आप यहीं ठहरिए।"

"उधर ऊपरसे शायद खुली जगह मिल जाये—वहाँसे पानीके साथ-साथ बढ़ा जा सकेगा—"कहकर हीली बायेंको मुड़ी, और कैप्टेन दयाल साथ हो लिये।

सचमुच कुछ ऊपर जाकर झाड़ियाँ कुछ विरली हो गयी थीं और उनके बीचमें घुसनेका रास्ता निकाला जा सकता था। यहाँ कैप्टेन दयाल आगे हो लिये, अपनी बन्दूक़के कुन्देसे झाँड़ियाँ इधर-उधर ठेलते हुए रास्ता बनाते चले। पीछे-पीछे हीली हटायी हुई लचकीली शाखाओंके प्रत्याघातको

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

अपनी डाओंसे रोकती हुई चली।

कुछ आगे चलकर झरनेका पाट चौड़ा हो गया—दोनों ओर ऊँचे और आगे झुके हुए करारे, जिनके ऊपर जरैंत और हालीकी झाड़ी इतनी घनी छायी हुई कि भीतर अँधेरा हो, परन्तु पाट चौड़ा होनेसे मानो इस आच्छादनके बीचमें एक सुरंग बन गयी थी जिसमें आगे बढ़नेमें विशेष असुविधा नहीं होती थी।

कैप्टेन दयालने कहा, "यहाँ फिर ख़ूनके निशान हैं—शिकार पानीमें से इधर घिसटकर आया है।"

हीलीने मुँह उठाकर हवाको सूँघा मानो सील और जरैंतकी तीव्र गन्धके ऊपर और किसी गन्धको पहचान रही हो। बोली, "यहाँ तो जानवर की—"

हठात् कैप्टेन दयालने तीखे फुसफुसाते स्वरसे कहा, "देखो—श्-श्!"

ठिठकनेके साथ उनकी बाँहने उठकर हीलीको भी जहाँका-तहाँ रोक दिया।

अन्धकारमें कई-एक जोड़े अंगारे-से चमक रहे थे।

हीलीने स्थिर दृष्टिसे देखा। करारेमें मिट्टी खोदकर बनायी हुई खोहमें—या कि खोहको देहरीपर—नर-लोमड़का प्राणहीन आकार दुबका पड़ा था—कासके फूलकी झाड़ू-सी पूँछ उसकी रानोंको ढँक रही थी जहाँ गोली का ज़ख्म होगा। भीतर शिथिल-गात लोमड़ी उस शवपर झुकी खड़ी थी, शवके सिरके पास मुँह किये मानो उसे चाटना चाहती हो और फिर सहम कर रुक जाती हो। लोमड़ीके पाँवोंसे उलझते हुए तीन छोटे-छोटे बच्चे कुनमुना रहे थे। उस कुनमुनानेमें भूखकी आतुरता नहीं थी; न वे बच्चे लोमड़ीके पेटके नीचे घुसड़-पुसड़ करते हुए भी उसके थनोंको ही खोज रहे थे····माँ और बच्चोंमें किसीको ध्यान नहीं था कि ग़ैर और दुश्मनकी आँखें उस गोपन घरेलू दृश्यको देख रही हैं।

कैप्टेन दयालने धीमे स्वरसे कहा, "यह भी तो डाकू होगी—"

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

हीलीकी ओरसे कोई उत्तर नहीं मिला। उन्होंने फिर कहा, "इसे भी मार दें—तो बच्चे पाले जा सकें—"

फिर कोई उत्तर न पाकर उन्होंने मुड़कर देखा और अचकचाकर रह गये।

पीछे हीली नहीं थी।

थोड़ी देर बाद, कुछ प्रकृतस्थ होकर उन्होंने कहा, "अजीब औरत है।" फिर थोड़ी देर वह लोमड़ीको और बच्चोंको देखते रहे। तब "उँह, मुझे क्या!" कहकर वह अनमनेसे मुड़े और जिधरसे आये थे उधर ही चलने लगे।

[४]

हीली नंगे पैर ही आयी थी; पर लौटती बार उसने शब्द न करनेका कोई यत्न किया हो, ऐसा वह नहीं जानती थी। झुरमुटसे बाहर निकलकर वह उन्मादकी तेज़ीसे घरकी ओर दौड़ी, और वहाँ पहुँचकर सीधी बाड़ेमें घुस गयी। उसके तूफ़ानी वेगसे चौंककर बत्तखें पहले तो बिखर गयीं पर जब वह एक कोनेमें जाकर बाड़ेके सहारे टिककर खड़ी अपलक उन्हें देखने लगी तब वे गरदनें लम्बी करके उचकती हुई-सीं उसके चारों ओर जुट गयीं और 'कक्! क-क्' करने लगीं।

वह अधैर्य हीलीको छू न सका, जैसे चेतनाके बाहरसे फिसलकर गिर गया। हीली शून्य दृष्टिसे बत्तख़ोंकी ओर तकती रही।

एक ढीठ बत्तख़ने गरदनसे उसके हाथको ठेला। हीलीने उसी शून्य दृष्टिसे हाथकी ओर देखा। सहसा उसका हाथ कड़ा हो आया, उसकी मुट्ठी डाओके हत्थेपर भिंच गयी। दूसरे हाथसे उसने बत्तखका गला पकड़ लिया और दीवारके पास खींचते हुए डाओके एक झटकेसे काट डाला।

उसी अनदेखते अचूक निश्चयसे उसने दूसरी बत्तखका गला पकड़ा, भिंचे हुए दाँतोंसे कहा: "अभागिन!" और उसका सिर उड़ा दिया। फिर तीसरी, फिर चौथी, पाँचवीं····ग्यारह बार डाओ उठी और 'खट्'के

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

शब्दके साथ बाड़का खम्भा काँपा; फिर एक बार हीलीने चारों ओर नज़र दौड़ाई और बाहर निकल गयी।

बरामदेमें पहुँचकर जैसे उसने अपनेको सँभालनेको खम्भेकी ओर हाथ बढ़ाया और लड़खड़ाती हुई उसीके सहारे बैठ गयी।

कैप्टेन दयालने आकर देखा, खम्भेके सहारे एक अचल मूर्ति बैठी है जिसके हाथ लथपथ हैं और पैरोंके पास खूनसे रँगी डाओ पड़ी है। उन्होंने घबराकर कहा, "यह क्या मिस यिर्वा ?" और फिर उत्तर न पाकर उसकी आँखोंका जड़ विस्तार लक्ष्य करते हुए उसके कन्धेपर हाथ रखते हुए फिर, धीमे-से "क्या हुआ, हीली—"

हीली कन्धा झटककर, छिटककर परे हटती हुई खड़ी हो गयी और तीखेपनसे थर्राती हुई आवाज़से बोली, "दूर रहो, हत्यारे!"

कैप्टेन दयालने कुछ कहना चाहा, पर अवाक् ही रह गये, क्योंकि उन्होंने देखा, हीलीकी आँखोंमें वह निर्व्यास सूनापन घना हो आया है जो कि पर्वतका चिरन्तन विजन सौन्दर्य है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

वे दूसरे

हेमन्त कई क्षण तक चुपचाप वालूकी ओर देखता रहा। यह नहीं कि उसके मनमें शून्य था; यह भी नहीं कि मनकी बात कहनेको शब्द बिलकुल ही नहीं थे, केवल यही कि बालूपर उसके अपने पैरोंकी जो छाप पड़ी हुई थी—गीली वालूपर, जो चिकनी पाटीकी तरह होती है—उसमें उसके लिए एक आकर्षण था जिसमें निरा कौतूहल नहीं, जिज्ञासाकी एक तीखी तात्कालिकता थी। छालियाँ उसके पास तक आकर लौट जाती थीं—क्या कोई बड़ी लहर आकर उस छापको लील जायेगी? क्या एक ही लहरमें वह छाप मिट जायेगी—या कि केवल हलकी पड़ जायेगी—मिटनेके लिए कई लहरोंको आना होगा, जिन लहरोंको पैदा करनेके लिए समुद्रकी, पृथ्वीकी आन्तरिक हलचलकी, चन्द्र-सूर्य-तारागणके आकर्षणकी एक विशेष अन्योन्य-सम्बद्ध स्थितिको बार-बार आना होगा.....क्या उसका एक-एक अनैच्छिक पद-चिह्न मिटानेके लिए सारे विश्व-चक्रके एक विशेष आवर्तनकी आवश्यकता है?

"कोरा अहंकार!" उसने अपनेको झकझोरनेके लिए कहा, "कोरा अहंकार! इसलिए नहीं कि बात मूलतः झूठ है, इसलिए कि उसको तूल देना झूठ है। झूठ मूलतः तथ्यका नहीं, आग्रहका, दृष्टिका दोष है: झूठ-सच विषयीपर आश्रित, सापेक्ष्य हैं, तथ्य विषयीसे परे और निरपेक्ष हैं।"

और तब उसने अपनी साथिनसे कहा, "सुधा, मैं कह नहीं सकता कि मेरे मनमें कितनी ग्लानि है और मैं जानता हूँ कि वह वर्षों तक मुझे खाती रहेगी—मुझे लगता है कि अनुतापका यह बोझ मैं सारा जीवन ढोता रहूँगा। लेकिन—" क्षण-भर रुक कर उसने सुधाके चेहरेकी ओर देखा—"लेकिन मैं नहीं चाहता कि कटुताका बोझ तुम्हें भी ढोना पड़े

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

या कि तुम उसे याद भी रखो। और—"

वह फिर थोड़ी देर चुप हो गया। इसलिए भी कि आगे वह जो कहना चाहता था, उसे झिझक थो, और इसलिए भी कि वह चाहता था, ठीक इस स्थलपर सुधा उसकी बात काटकर कुछ कह दे, जिससे उसे कुछ सहारा मिल जाये।

पर सुधाने कुछ कहा नहीं। वह पिघली भी नहीं। हेमन्तने यह आशा तो नहीं की थी कि उसपर भी अनुतापका इतना गहरा बोझ होगा कि उसे उदार बना दे, पर इतनेकी आशा उसने शायद की थी कि सुधामें और नहीं तो करुणाका ही इतना भाव होगा कि उसकी सच्ची भावनाको स्वीकार करा दे। पर सुधाने जल्दीसे मुँह फेर लिया—और हेमन्तने देखा कि उस फिरते हुए मुँहपर एक मुसकान दौड़नेवाली है—विजयके गर्व की मुसकान—मानो कहती हो कि 'अब जाकर तुम जानोगे, अनुतापकी आगमें जलोगे तो मुझे शान्ति मिलेगी—तुम जिसने मुझे सताया-जलाया—"

ऐसी विदाकी उसने कल्पना नहीं की थी। उसे सहसा लगा कि वह मूर्ख है, महामूर्ख, क्योंकि जब साथ रहना असम्भव पाकर वे अलग हुए, और इतनी कटुताके बाद तलाक़ हुआ ही तब और अलग विदा लेना चाहनेका क्या मतलब था? क्या वह कलाकारका दम्भ ही नहीं है कि वह पराजयको भी सुघर रूप देना चाहे? अन्तका सौन्दर्य उसकी सुचारुतामें, सुघराईमें नहीं है, करुणामें भी नहीं है, वह उसके अपरिहार्य अन्तिमपन और काठिन्यमें है····अन्त सुन्दर है क्योंकि वह महान् है, क्योंकि हम उसका कुछ नहीं कर सकते, उसे केवल स्वीकार कर सकते हैं····

किन्तु उसका मन नहीं माना। देखकर भी उसने सुधाकी गर्वीली मुसकान देखनी नहीं चाही। क्योंकि यह तो निरी मृत्यु-पूजा है। अन्त इसलिए महान् है कि हम उसके आगे अशक्त हैं?—नहीं, हमारी स्वीकृति का संयम और साहस उसे महत्ता देता है—

और उसने पूरा साहस बटोरकर अपने मनकी बात कह ही डाली,

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

"और अगर तुम मुझे इतना भूल सको—यानी मेरे साथकी कटुताको—दोबारा विवाहकी बात तुम्हारे मनमें उठे, तो—तो मुझे बड़ी सान्त्वना मिलेगी—मेरा अनुताप तब भी मिटेगा या नहीं, यह तो नहीं कह सकता, पर इतना तो मान सकूँगा कि मैं सदाके लिए शाप न बना, कि—"

अब सुधा फिर उसकी ओर मुड़ी। अब उसने अपनेको वशमें कर लिया था—वह अप्रतिहत मुसकान उसके चेहरेपर नहीं थी। उसने रूखे स्वरसे कहा, "मेरे विवाहकी बात सोचनेकी, तुम्हें जरूरत नहीं है। हाँ, उससे तुम अपनेको अधिक स्वतन्त्र महसूस कर सकोगे, यह तो मैं समझती हूँ।"

हेमन्त थोड़ी देर बोल ही नहीं सका। फिर जब उसने सोचा कि शायद अब सकूँ, तब उसने पाया कि वह चाहता नहीं है। तीन वर्षोंकी व्यर्थ चेष्टामें, अलग होनेकी कटुतामें और फिर तलाक़की क़ानूनी कारवाई के ग्लानि-जनक प्रसंगमें वह जितना नहीं टूटा था, उतना, इस एक क्षणमें टूट गया। उसने आँखें फिर पैरकी उसी छापपर टिका लीं—एक लहर आकर उसपर हलके हाथसे लिपाई कर गयी थी, गड्ढे कम गहरे हो गये थे पर छापका आकार स्पष्ट पहचाना जाता था, बल्कि लहरके पीछे हटनेके साथ पैरकी छापमें भरा हुआ पानी एक ओरको मानो मोरचा तोड़कर वह निकला था और उधरको बालूमें एक नयी लीक पड़ गयी थी—इस छापको मिटाना ही होगा—लहरको आना ही होगा, यह लीक—यह लीक एक अनावश्यक आकस्मिक घटना है जिसे और एक आकस्मिक घटना अवश्य मिटायेगी, नहीं तो सब ग़लत है, सब व्यवस्था ग़लत है, कार्य-कारणत्व ही धोखा है—और तब सृष्टि एक आधारहीन, कारणहीन, अर्थ-हीन विसंगति है—पर वह वैसी हो नहीं सकती—

वह आँखोंसे उस पैरकी छापको पकड़े रहेगा। उसमें स्वास्थ्य है—उसके सहारे यथार्थसे उसका सम्बन्ध जुड़ा है—उस यथार्थसे जिसमें भावनाएँ अर्थ रखती हैं; और संयत हैं; नहीं तो यथार्थ तो सब कुछ है

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

जो है—पर ऐसा भी हो सकता है कि भावनाएँ ही एक भूलभुलैया हो जावें—

उसने फिर कहा, "मैं यहाँसे कटुताकी स्मृति भी वापस न लेकर जाऊँगा, यही सोचकर यहाँ आया था। और इसीलिए सागरके किनारे—कि शायद यहाँ अपनी क्षुद्रता उतनी प्यारी न लगे, और—" वह फिर रुक गया, उसके वाक्यकी गढ़न ठीक नहीं थी क्योंकि इसके अर्थ दोनों तरफ़ लग सकते हैं और वह केवल अपनी क्षुद्रताकी बात करना चाहता है, इस वक़्त आरोप-अभियोग उसमें नहीं है, न होने देना होगा, केवल स्वीकृति····

एक और लहर आयी, जिसके उफनते झाग पैरकी छापके बहुत आगे तक छा गये। जब लहर लौटी, और झागके बुलबुले बैठ गये, तब हेमन्तने देखा, छाप मिट गयी है। या कि नहीं, उसकी झाईं-सी अभी दीखती है? नहीं, निश्चय ही वह उसका भ्रम है; और कोई कुछ न देख सकता, वह इसलिए देखता है कि उसे याद है—

'याद' है! कितनी घुली हुई मिथ्या छायाओंको हम केवल स्मृतिके—स्मरण-भ्रमके!—ज़ोरसे सच बनाये रहते हैं? सागरका जो तट मीलों तक फैला है—मीलों क्यों, अगर कोई चीज़ भौतिक यथार्थके इस छोरसे उस छोर तक, इस सीमासे उस सीमा तक, इस असीमसे उस असीम तक फैली है तो वह सागरका तट है! उसीपर एक अदृश्य पैरकी छापको मैं 'देख' रहा हूँ, वह भी इतनी स्पष्टतासे कि उससे मेरा जीवन बँध रहा है—क्या यह यथार्थ है? क्या देखना यथार्थ है? क्या—

हेमन्त देखता है—

वे दोनों पहाड़की चोटीपर खड़े हैं। सामने अत्यन्त सुन्दर दृश्य है—छोटी-छोटी पहाड़ियोंसे घिरी हुई-सी झील जो साँझके आलोकमें ऐसी है मानो रंग-बिरंगा और मेघिल आकाश ही जमकर नीचे बैठ गया हो; ऊपर

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

पहली शरद्के मेघ जिन्हें डूबते सूरजकी आभाने रँग दिया है—पीला, लाल, धूमिल, बैंगनी। और ऊपर एक अकेला तारा। लेकिन हेमन्त उस दृश्यमें नहीं है। वह सुधाके साथ भी नहीं है। वह कहीं और हो, ऐसा नहीं है, वह सुधा और हेमन्तको इस परिपार्श्वमें जैसे बाहरसे देख रहा है, वह भी पीछेसे—और सोच रहा है कि उन दोनोंकी पीठ इस झील और आकाशके परदेपर कैसी दीखती होगी? क्या उन पीठोंमें, उन छाया-कृतियोंके परस्पर रखाव-झुकावमें, इस बातका कोई संकेत है कि ये दो—प्रेमी हैं, या कि पति-पत्नी हैं, विवाहके सप्ताह-भर बाद ही इस पहाड़ी झीलकी सैर, एकान्त सैरके लिए आये हैं, इसलिए 'हनीमूनर्' युगल हैं? वह जानता है कि ऐसा कोई संकेत नहीं है, क्योंकि यह झूठ है। तथ्य सब ठीक हैं—पर आग्रहकी चूक है, भावनाकी चूक है। और निरा तथ्य तब-तक सत्यकी अभिधा नहीं पाता जबतक उसके साथ रागात्मक सम्बन्ध न हो....

बल्कि वह साथ भी नहीं है। मानो वह अगर हाथ बढ़ाकर सुधाका हाथ पकड़ लेगा तो भी उसे छूएगा नहीं क्योंकि दोनों एक भावनात्मक दूरीकी चादरमें लिपटे हुए हैं।

सुधाने धीरेसे कहा, "हम यहाँ नहीं होंगे, तब भी यह तारा ऐसा ही चमकेगा। पर जैसे हम आज इसे देख रहे हैं, वैसे और कोई नहीं देखेगा—यह आज इस क्षणका तारा है।"

हेमन्तको थोड़ा-सा अचम्भा हुआ। क्या यह सच है? ऐसे क्षणपर भावुकता क्या ज़रूरी है? जो सच होता तो मौनमें भी प्रकट होता, वह जब सच नहीं है तो क्या इस बातको भी मौनमें ही न छिपे रहना चाहिए? पर यह वह कह भी कैसे सकता है? लेकिन उसे कुछ कहना है, क्योंकि दूसरा जो उत्तर हो सकता है—कि सुधाका हाथ पकड़ाकर धीरेसे दबा दिया जाता—वह उत्तर भी झूठ है....

उसने कहा, "तारे सबके अलग-अलग होते हैं।" इस वाक्यमें चाहे

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

जितना जो अर्थ पढ़ा जा सकता है, अधिक या कम····और अपने मनका सच भी उसने कह दिया है, छिपाया नहीं है····

सुधाने उसकी ओर देखा। क्या हेमन्तको धोखा ही हुआ कि जब देखा, तब पहचान उन आँखोंमें नहीं थी, तत्काल बाद आयी—कुछ अचकचाहटके साथ ?

सुधा बोली, "क्या सुन्दरमें हम सब अपने-अपने अलगाव डुबा नहीं सकते ?"

"सकते हैं। अपने-अपने एकान्तका लय—" और रुक गया। लेकिन मनके भीतर कुछ बोला, "सुन्दरमें; लेकिन एक-दूसरेमें नहीं, एक-दूसरेमें नहीं !"

अपनेको लय करनेके लिए सागरकी विशालतासे अच्छा और कौन द्रावक मिल सकता है ? कितने लोग सागर-तटपर खड़े-खड़े इयत्ताको उसमें विलीन कर देते होंगे····लेकिन इससे क्या एक-दूसरेके कुछ भी निकट आ सकते होंगे ? सागरमें डूबकर भी क्या प्रत्येक चट्टान अलग चट्टान नहीं बनी रहती ? जो द्रव नहीं होती, द्रव हो नहीं सकती····

और सागरकी छाली, पैरकी छापको मिटानेसे पहले उसमें छेद करती है, दरार डालती है, नयी लोक बना देती है····

हेमन्तने फिर देखा :

नदीपर बजरा धीरे-धीरे बह रहा है। उसके डोलनेसे, और बाहर लकड़ीपर पड़ती माँझीकी दबी हुई पद-चापसे ही मालूम हो रहा है कि यह बह रहा है, क्योंकि जहाँ वह बैठा है, वहाँ चारों ओरके परदे खिंचे हुए हैं, बाहर कुछ नहीं दीख रहा है। कहीं भी कुछ भी दीख रहा है, ऐसा नहीं है; क्योंकि उसका शरीर एक अन्य शरीरसे उलझा-गुँथा हुआ है और उन गुंथनमें सुलझावकी, तारतम्यकी कुछ ऐसी कमी है कि दृष्टि देनेवाली वासना केवल धुआँ दे रही है जिससे आँखें कड़ुआ जाती हैं। क्यों नहीं सब कुछको दृष्टिसे बाहर करके, उस मन्द-मन्द दोलनपर झूलते हुए यह

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

अपर-शरीरत्वका भाव मिटता—क्यों नहीं—

उसने किंचित् बलसे सुधाका परेको मुड़ा मुँह अपनी ओर फिराया—कदाचित् उसकी आँखोंमें आँखें डालकर दोनों इस खाईको पार कर सकें—लेकिन सुधाकी आँखें ज़ोरसे भिंची हुई थीं—क्यों? वासना अन्धकार माँगती है शायद, ताकि वह अपनी ज्वालामयी सृष्टिको अपने ढंगसे देखे, यथार्थ उसमें बाधा न दे—पर बन्द आँखें—क्या वह ज्योतिःशरीर अन्धी आँखोंसे ही देखा जायेगा? पर अन्धी आँखें पृथक् आँखें हैं, और वासना अगर युत नहीं है तो कुछ नहीं है—

उसने भर्राये स्वरमें कहा, "आँखें खोलो—"

वह जान सका कि आँखें खुलनेके साथ-साथ सुधाका शरीर सहसा कठोर पड़ गया है, और वह जान सका कि पहचान उन आँखोंमें नहीं थी; उन आँखोंमें था—वह, वह दूसरा, और इसीलिए आँखें बन्द थीं—बाहर एक धुएँका खोल है जो उसे भी लपेट लेगा, और भीतर एक ज्योतिः-शरीर जो—जो कहाँ है? क्या है भी?

और थोड़ी देरके लिए नावका दोलना, गति, हवा, साँस, हृद्गति, सब कुछ रुक गया था, और फिर धीरे-धीरे अनजाने वह वासनाकी गुंजलक खुल गयी थी—साँप मर गया था—हेमन्त अलग जाकर परदा हटाकर बाहर देखने लगा था नदी किनारेके गाँवकी मुर्गाबियाँ कगारकी छाँहमें तैरती हुई; और सुधा अपने अस्त-व्यस्त कपड़ोंकी सलवटें ठीक करके पास पड़ी चौकीके फूल सँवारने लगी थी। हेमन्तका मन आत्मग्लानिसे भर आया था—वह जो जानता है उसे क्यों भूल सका; भूल नहीं सका, क्यों उसकी अनदेखी करना चाह सका? सुधाकी आँखोंमें वह दूसरा है, और स्वयं उसकी अपनी—क्या उसकी आँखोंमें भी एक परछाईं नहीं है? और जबतक है तबतक यह उलझन, यह गुँथन उस ज्योतिःशरीरका किरण-जाल नहीं है, केवल साँपकी गुंजलक है जिसके दंशमें केवल मरण है....

और सुधाने कहा था, "हेमन्त, तुम मेरी एक इच्छा पूरी करोगे?"

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

"क्या ?"

"मैं····मेरे लिए शराब ला सकोगे ? मैं शराब पीना चाहती हूँ।"

मुर्गाबियाँ···कगारके कीचड़में चोंच फिचफिचाती हुई मुर्गाबियाँ और उनके आस-पास बनते हुए लहरोंके वृत्त—जो सागरकी लहरोंमें घुल जाते हैं, और सागर वह रेतकी पैरोंकी छाप धीरे-धीरे मिटा देता है।

शराब वह लाया था। मूक विद्रोहसे भरा हुआ, पर लाया था। दोपहर को वे खाना खाने बैठे थे, और साथ सुधाने शराब पीनी चाही थी—पी थी। दोपहरको कोई नहीं पीता, खानेके साथ कोई नहीं पीता, कमसे-कम जिन-ह्विस्की-जैसी भभकेकी शराबें, और उस ढङ्गसे—यह न वे ठीक जानते थे, न वह सोचनेकी बात थी। क्योंकि वह शराब वातावरणको रङ्गीनी देने, बात-चीतको आलोकित करनेके लिए नहीं थी, वह शराब स्वयं अपनी इन्द्रियोंको थप्पड़ मारकर सन्न कर देनेके लिए थी····हेमन्त देख रहा था; और केवल देखना, वह भी स्त्रीको शराब पीते, स्वयं ग्लानि-जनक है, इस-लिए साथ पी रहा था। और जब उसने देखा कि सुधाने बड़े निश्चय-पूर्वक बहुत-सी अपने ग्लासमें एक साथ ढाल ली है तब मुख्यतया इसलिए कि सुधा और न पी सके, उसने सहसा बोतल उठाकर मुँहको लगा ली थी और सुधाके हाथा-पाई करते-करते भी सारी पी गया था।

तेज शराबोंमें स्वाद यों भी नहीं होता; और ऐसे पीनेमें तो और भी नहीं, उसे बड़ी ज़ोरसे उबकाई आयी थी, पर उसने किसी तरह उसे दबाकर चार-छह ग्रास खाना खा ही लिया था····

फिर उसकी चेतना भी कुछ मन्द पड़ गयी थी। याद सब कुछ है, और उसकी प्रत्येक हरकतमें एक स्पष्ट प्रेरणा भी काम कर रही थी जिसका उसे ध्यान भी था, पर जैसे उसके भीतरका कोई उच्चतर संचालक हथौड़ेकी चोटसे चित्त हो गया हो, और ऐरे-ग़ैरोंकी बन आयी हो····उसने उठकर सब किवाड़-खिड़कियाँ बन्द कर दी थीं, परदे तान दिये थे। थी अभी दोपहर पर उसे अभी कुछ धुँधला, कुछ नीला-सा दीखने लगा था,

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

जैसे पानीके नीचे गोता लगाकर आँख खोलनेसे दीखता है। हवा भी जैसे पानी-जैसे भारी और ठोस हो गयी थी—चलनेमें उसे ऐसा जान पड़ता था जैसे वह पानीको ठेल-ठेलकर बढ़ रहा हो····जैसे ठीक प्रतिरोध तो कहीं न हो, लेकिन प्रत्येक अङ्गक्षेपमें अजीब जड़ता आ गयी हो····

इससे आगे उसे ठीक या स्पष्ट याद नहीं। यह नहीं कि स्मृति धुँधली हो गयी है; शायद जिस बोधकी स्मृति है वही धुँधला, धुएँसे कड़वा, मैला, एक जड़ता लिये हुए है, जैसे जाड़ेमें ठिठुरा हुआ साँप। उसे याद है कि कहीं नीले-नीले पानीमें-से मछलियोंकी तरह निःशब्दसे, वे दोनों एक दूसरेके पास आये थे, और जैसे मछलियाँ पानीमें भी बलखाती-सी मानो एक-दूसरेसे सटती-सी, पेच देती-सी चली जाती हैं, उसी तरह धीरे-धीरे आगे बढ़ गये थे····फिर सहसा उसने पाया था कि उन मछलियोंके पेच नहीं खुल रहे हैं, कि वह ठिठुरा हुआ साँप-जैसे जाग उठा है और उसकी गुंजलकमें वे दोनों कसे जा रहे हैं, पर पानी नीला होता जा रहा है, और उनके कपड़े भी मानो मोमसे जान पड़ रहे हैं, या कि हैं ही नहीं, केवल नीले पानीमें काँपती उनकी परछाई है, तभी तो उनके हाथोंकी पकड़में नहीं आते—

और फिर सब नीला-ही-नीला हो गया था, एक द्रव जिसमें वे जड़ होते जा रहे हैं; न उलझे, न अलग; गरम पानीमें पड़ी हुई मोमकी बूँद जो न घुल सकती है, न जम सकती है।

और इसके बाद जो याद है, वह यह कि जब वह चौंककर जागा था और हड़बड़ाकर उठा था कि वमी करनेके लिए कमसे-कम यथास्थान पहुँच जाये, तब दिन छिप रहा था। मुँह-हाथ धोकर जब वह सख्त सिर-दर्द लिये कमरेमें लौटा था, तब सुधा सोयी पड़ी थी। उसने नींदमें, या बीचमें जागकर, वहीं पास ही क़ै कर दी थी पर उसका भी उसे होश नहीं था····

और उसने सब किवाड़-खिड़कियाँ खोली थीं; नौकर बाहर मुसकराया

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

था कि बाबूसाहब दिन-भर किवाड़ बन्द करके सोये रहे, चाय-पानी और ब्यालूकी चिन्ता भूलकर—नयी शादी है न····

तब उसने बैठकर सामने-सामने उस दूसरेकी बातको फिरसे सोचा था और गहरे बैठा लिया था····जब विवाह हुआ था, तब दोनों जानते थे कि दोनोंका पहले अन्यत्र लगाव रहा है जो मिटा नहीं है, लेकिन जिसका कोई रास्ता भी नहीं है। एक विवाहित व्यक्ति था, और पति-पत्नी दोनों ही सुधाके भी और हेमन्तके भी घने मित्र थे····वह परिवार न टूटे, यह भी सबके ध्यानमें था, और विवाह हुआ तब जैसे यह भी एक बात पीछे कही थी कि अगर सभ्य समाजमें ऐसी उलझनें पैदा होती हैं, तो सभ्य व्यक्ति उसका सामना भो सभ्य तरीक़ोंसे कर सकता है; प्यार जहाँ है वहाँ हो, और विवाह····विवाह तो सामाजिक सम्बन्ध है, व्यक्तिके जीवनमें यह बाधक हो ही, ऐसा क्यों ?

वह अपनी भूल जानता और मानता है—जान गया। और भूल दोनों की थी, इस बातके पीछे इसने आड़ नहीं ली।

वह दूसरा····क्या वह आज भी उस दूसरेकी बात कर सकता है ? अपनी ओरसे, या दूसरी ओरसे ? हेमन्तने सागरकी ओर देखा, उसकी लहरमें उसे बुरूसके फूलोंका एक बड़ा-सा लाल गुच्छा दीखा, जो वास्तव में किसीकी कबरीमें खोंसा हुआ है, कबरी और माथेकी रेखा भी उसे दीख गयी, और ग्रीवाकी बंकिम भङ्गिमा, किन्तु चेहरा—वहाँ उसकी दृष्टि रुक गयी। नहीं····वह दूसरी थी—और आज भी वह कैसे कहे कि वह है नहीं केवल थी, यद्यपि वह जानता है कि वह होकर भी हेमन्तके जीवनसे सदाके लिए चली गयी है। पर उसको इस झमेलेमें नहीं लाना होगा, वह अलग ही है। उसने कभी कुछ नहीं माँगा····न प्यार, न ब्याह, न वासना····वह देखकर चली गयी जैसे बिजली कौंधकर गिरकर मिट जाती है····

और सुधा ? हेमन्तको याद आया, ब्याहके बाद सुधाको उस दूसरेकी

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

एक चिट्ठी भी आयी थी। कई दिन बाद। उसने देखी नहीं थी, कुछ पूछा नहीं था, सुधाको अनमना और अस्थिर देखकर भी नहीं। पर दूसरे-तीसरे दिन सुधाने ही कहा था, "यह चिट्ठी आयी थी—पढ़ लो।"

और उसमें अनिच्छा स्पष्ट थी। "मैंने कह दिया, मेरा कर्त्तव्य था। तुम इनकार करो पढ़नेसे, क्योंकि तुम्हारा भी वह कर्त्तव्य है—तुम्हें मुझपर विश्वास करना होगा!"

हेमन्तने चिट्ठी न लेते हुए कहा था, "क्या लिखा है?"

"कुछ नहीं—यों ही शुभ-कामनाएँ—और अपने इलाक़ेका वर्णन—"

हेमन्तने अनचाहे लक्ष्य किया था कि चिट्ठी लम्बी है। आशीर्वाद छोटे होते हैं····खासकर उसके, जो वह दूसरा व्यक्ति हो····उसकी आँखें चोरी से कागज़पर फिसलती हुई एक वाक्यपर रुक गयी थीं: "और मैं सोचता हूँ कि तुम शीघ्र ही उसके बच्चेकी माँ भी होगी—उस बच्चेकी सूरत उस जैसी होगी, लेकिन वह तुम्हारी देह—" और जैसे उसने स्वयं चोरको पकड़ लिया हो, ऐसे चौंककर उसकी दृष्टि हट गयी थी।

क्या वह बहुत बड़ा स्वीकारी नहीं है? किन्तु कैसी अद्भुत है यह बात, कि जिसकी आत्मा हम दूसरेको सौंपनेको तैयार हैं—क्योंकि उसके ब्याहकी बात स्वीकार करते हैं—उसीकी देहको सौंपते क्यों हमें इतना क्लेश होता है? 'दूषित' या 'भ्रष्ट' क्या देह होती है, या मन—आत्मा? या कि देहको हम देख, छू, सकते हैं, बस इतनी-सी बात है?

उसने कहा था, "ठीक है, मैं पढ़कर क्या करूँगा। तुम उत्तर दे देना।" और उठकर हट गया था····

बुरूसके गुच्छे-गुच्छे लाल फूल····वह भी क्या ऐसे ही सोचती-कहती? कल्पनाका क्या भरोसा, लेकिन हेमन्त जानता है, कभी कुछ कहनेका अवसर उसे होता, या कुछ वह कहना चाहती, तो यही कहती, "मैंने अपनी आत्मा तुम्हें दी है, इसलिए मेरी देह भी तुम लो—क्योंकि वह आत्माका खोल है। और उसके बदलेमें कुछ देना कभी मत चाहना, क्योंकि वह

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

मेरे इस उपहारका अपमान है। तुम निरपेक्ष भावसे जब जो दोगे, मैं वर समझकर ले लूँगी....''

यह आदिम, अराजक, व्यक्ति-परक दृष्टिकोण है। लेकिन यही क्या एक मात्र सभ्य दृष्टिकोण नहीं है, जो हमारे सभ्य जीवनके बोझके नीचे दबा जा रहा है?

''तुम अपनेको अधिक स्वतन्त्र महसूस कर सकोगे''....स्मृतिका दंश!....लेकिन नहीं, मन; इसपर मत अटक, यह व्यर्थ है! अत्यन्त व्यर्थ! हमारा जीवन हमसे है, उन दूसरोंसे नहीं, वे हमारे कितने हो निकट क्यों न हों; और हमारी न चाहनेकी उदारतामें ही हमारी स्वतन्त्रता है। पानेमें नहीं, न पानेकी याद करनेमें नहीं। पैरकी जो छाप सागर-तटकी बालूपर बन गयी है, उसे सागरकी लहरोंमें घुल जाने दो, चाहे धीरे-धीरे यों ही, चाहे दरारोंमें फटकर....

''इसीलिए तुम्हें सागरके किनारेपर मिला, कि शायद अपनी क्षुद्रता यहाँ इतनी प्यारी न लगे—''

और स्मृति? व्यर्थ, व्यर्थ, व्यर्थ! क्षमाकी पराजय, जीवनकी खाज.... जीवनकी देन हमें या तो विनयपूर्वक स्वीकार करनी है,—जिस दशामें स्मृति बेकार है; विनय चरित्रका एक अंग है और स्मृति केवल मस्तिष्कका एक गुण—या फिर....अगर हममें विनय नहीं है, हमें स्वीकार नहीं है, तो स्मृति केवल एक कीड़ा है जिसके दंशसे फोड़े होते हैं, और हम केवल अपने फोड़े चाटते रहते हैं। फोड़े चाटना क्या सभ्य कर्म है, सागरका भी अपना विनय है; वह पैरोंकी छाप मिटाता है, दरारें मिलाता है; सागरका विनय मुग्ध नहीं करता, वह स्वास्थ्य-लाभको प्रेरित करता है—पैरोंकी छापें मिटाता हुआ....

''सुधा, मैं सच्चे दिलसे कहता हूँ—सागरकी क़सम खाकर—मेरे मनमें कोई कटुता नहीं है। जो कुछ था, या होना चाहा था, उसे जब

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

मिटा दिया तो कटुता क्यों अनिवार्य है ? मेरा अपराधका बोध नहीं मिटा, न मिटेगा—पर तुम जाओ तो क्षमा करके जाओ—सागरकी तरह; और मैं तो—"

उसकी आवाज़ फिर रुक गयी। तभी एक बड़े ज़ोरकी छाली आयी—हेमन्तके पैरकी छापको पार करती हुई, आगे बढ़कर हेमन्तके पैरोंको भी लिपट गयी। झागमें खड़े-खड़े उसने लम्बी साँस ली और कहा, "सुधा, तुम सुखी रहो।"

सुधारकी मुसकराहटमें तीखापन था। उसने पीछे हटते हुए नमस्कार किया और चल पड़ी।

हेमन्त क्षण-भर उसे देखता रहा। फिर उसने पैरोंकी ओर देखा, वह भगोड़ी छाली लौटती हुई उसके पैरोंके तलेसे थोड़ी-सी बालू काट ले गयी थी, और गीली रेतपर पड़े हुए तो सब पैरोंकी छाप बिलकुल मिट गयी थी—जैसे लिपी-पुती एक नयी वेदिका खड़ी हो····

हेमन्तने लम्बी साँस ली। फिर जैसे सहसा याद करके देखा; सुधा दूरपर चली जा रही थी। और अभी तक वह अकेली थी, अब दूरके एक झाऊके पीछेसे एक और व्यक्ति उसके साथ हो लिया और क्षण ही भर बाद क़दमसे क़दम मिलाकर चलने लगा। हेमन्तने पहचाना, वही दूसरा····

पर वह चौंका नहीं। ठीक है। पैरोंकी छाप बिलकुछ मिट गयी है। मन-ही-मन उसने सागरको प्रणाम किया।

इसी तरह पैरोंकी छाप मिट जायेगी! सबसे पहले उसकी। धीरे-धीरे उन दूसरोंकी····सागर आदिम, अराजक; व्यक्ति-परक है, स्वयं और संयत है। सभ्य है····

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

कविप्रिया

शान्ता—कवि दिवाकरकी पत्नी

सुधा, मालती—शान्ताकी सहेलियाँ

सुरेश—बन्धु, सुधाका पति

अशोक—बन्धु

दिवाकर—कवि

बालक, माली, बेयरा

[बँगलेके सामने बग़ीचेके एक भागमें, शान्ता और माली ।]

माली—"पानी तो हम बराबर देत रहेन, माँजी । मगर लू—"

शान्ता—[जिसके स्वरमें अपार धैर्य और एक स्निग्ध अन्तर्मुखीन भाव है] "रहने दो, माली; ऐसे बहाने मत बनाओ । तुम्हें आदत है सब चीज़ दैवपर छोड़नेकी—'दैव नहीं बरसेगा तो बीज नहीं जमेगा ।' ऐसे भी देश होते हैं जहाँ दैव कभी बरसता ही नहीं—वहाँ—वहाँ क्या पौधे ही नहीं होते ?"

माली—[मानो अपने बचावमें] "माँजी—"

[निकट आती हुई हँसती हुई आवाज़ें : मालती, सुधा और सुरेश]

सुधा—"वह रही, बग़ीचेमें । शान्ता !"

सुरेश—"नमस्कार, शान्ता भाभी । बाग़बानी हो रही है ?"

शान्ता—"अरे सुधा—सुरेश भैया ! आइए । [सकपकाती-सी !] मेरे हाथ मट्टीके हो रहे हैं—माली, दौड़कर ज़रा देवीसरनसे कुरसियाँ डाल देनेको कहो तो—"

मालती—"जी हाँ, मेरे तरफ़ तो देखेंगी क्यों श्रीमती शान्तादेवी—

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

उर्फ़ कविप्रिया—"

शान्ता—"ओहो मालती! ज़रा सामने तो आओ, मैंने तो देखा ही नहीं—"

मालती—"जी यही तो कह रही हूँ। मुझे क्यों देखने लगीं। मैं न कवि, न बुलबुल, न गुलाबका फूल—"

शान्ता—[हैरान-सी] "आख़िर मामला क्या है?"

सुधा—[धीरेसे] "न सही गुलाबका फूल, मालतीका सही!"

मालती—[डपटकर] "चुप रहो जी! [शान्तासे] अच्छा कविप्रिया देवीजी, पहले तो मिठाई खिलाइए—

सुरेश—"नाम ठीक रखा है आपने—कविप्रिया देवी। आपको भी कवि होना चाहिए था—"

मालती—"मुझे खाहमख़ाह। कवि तो जो हैं सो हुई हैं—पूछो न उनकी देवीजीसे!"

शान्ता—"यह पहेली क्या है आखिर? मालती, तुम्हीं बताओ क्या बात है—लेकिन पहले सब लोग बैठ तो जाओ!"

मालती—"अब तुम बनो मत, शान्ता। कल तुम्हारे कविजी सम्मेलनमें सभापति रहे, उनके कविता-पाठकी सारे शहरमें धूम है—तुमने तो हमें कभी बताया ही नहीं कि वह कविता लिखते भी हैं?"

सुरेश—"अच्छा शान्ता भाभी, वह सारे प्रेमगीत अकेले तुम्हींको सुनाते होंगे और छिपाकर रख लेते होंगे?"

सुधा—"और शान्ताजी तो भला किसीको बताने क्यों लगीं अपनी सूझकी दौलत।"

मालती—"तभी तो आज हम दल बाँधकर तुम्हें देखने आये हैं!"

शान्ता—[कुछ हँसकर] "तो मुझे क्यों देखने आयीं? मैं तो वहीकी वही शान्ता हूँ अनपढ़, बेसमझ—मुझे तो कविता छू भी नहीं गयी। और वह तो इस समय यहाँ हैं नहीं, न जाने कब आयेंगे।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

खैर, तुम लोग बैठो, वह जब भी आवें—"

मालती—"नहीं देवीजी, यों नहीं। हम आप ही को देखने आये हैं, आपके दर्शन करने, आपसे कविता सुनने—"

शान्ता—[मानो अवाक्] "मुझसे कविता ?"

मालती—"जी हाँ। आपकी कविता और आपके उनकी कविता। सुर से—ठीक वैसे ही जैसे 'वह' जो आपको अकेलेमें सुनाते होंगे !"

सुधा—"जी हाँ, वैसे ही।"

शान्ता—"तुम लोग सब पागल हो गयी हो क्या ?"

मालती—"यह लो। अभी अपनेको अनपढ़ बता रही थीं, अब हमें पागल बता रही हैं।"

शान्ता—"मैंने कहा तो, वह घर नहीं हैं, आवेंगे तो कविता सुन लेना !"

सुधा—"आप तो घरपर हैं न, यह पहले बताइए।"

शान्ता—"मैं घरपर न हूँगी तो और कहाँ हूँगी- –उनके साथ सम्मेलनोंमें घूमूँगी ? मुझे यह सब अच्छा नहीं लगता, मैं यहीं ठीक हूँ घरमें।"

सुधा—"तो तुम कभी कहीं जाती—"

शान्ता—"न, मुझे क्या करना है बाहर ? यहीं बग़ीचीमें टहल लेती हूँ—मुझे बग़ीचीमें काम करना अच्छा लगता है।"

सुधा—"बुरी बात है शान्ता ! तुम एकदम बाहर ही नहीं निकलतीं—"

मालती—"हाँ यह तो बहुत बुरा है। जहाँ न जाये रवि वहाँ पहुँचे कवि। और कविकी स्त्री घरसे बाहर न निकले ? कविप्रिया बन्दिनी होगी, यह हमने कभी नहीं सोचा था !"

शान्ता—"अब बस भी करो ! बन्दिनी काहेकी ? वह कवि हैं, वह बाहर जावेंगे, मुझे घरमें कम काम है ?"

मालती—"ओह मैं समझी ! [सुधासे] बात यह है कि अगर कवि भी घर ही रहेंगे तो उनकी काव्य-धारा फूटेगी कैसे ? प्रिया हर वक़्त

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

पास रहेगी तो कविका चिर-विरही हिया तो चुप ही हो जायेगा ! और हम संसारियोंकी तरह प्रियाको साथ लेकर घूमे-फिरेगा, सिनेमा देखेगा, तब तो उसकी कविताका स्रोत ही सूख जायेगा। प्रियाको निर्वासन देकर ही तो कवि, कवि बन सकता है—उसका जीवन बलि देकर ही काव्य-साधना कर सकता है।"

शान्ता—"तुम रखो अपना पाण्डित्य। मैं यह सब कुछ नहीं जानती।"

सुधा—"अच्छा ये बहाने रहने दो अब। यह बताओ कि दिवाकर बाबू—कविजी आवेंगे कब ? हम उन्हींसे उनकी कविता सुन लेंगे।"

शान्ता—"सो मैं क्या जानूं ? एक बार घरसे निकले तो कब लौटेंगे यह भगवान् भी नहीं बता सकते। मालती कह रही थी न, जहाँ न जाये रवि, तहाँ जाये कवि ? सो रवि सुबहका निकला साँझको घर लौटता ही है, पर कविका क्या ठिकाना !"

मालती—"तुम रूठती नहीं ?"

शान्ता—"क्यों ? उन्हें कुछ काम रहता होगा—"

मालती—"और तुम्हें कोई काम हो, कहीं जाना हो तो ?"

सुधा—"चाय पीकर गये हैं ?"

शान्ता—[कुछ रुककर] "नहीं, चाय पीकर तो नहीं गये। लेकिन मैं तो घर पर ही हूँ, जब आयेंगे तभी चाय हो जायेगी। मुझे तो कहीं जाने-आनेका काम होता ही नहीं—यहीं बगीचेमें काम कर लेती हूँ, रूठनेकी बात ही क्या है।"

सुधा—"और रातको आये तो ?"

शान्ता—"तो रातको चाय होगी—भोजन देरसे हो जायेगा।"

सुधा—"भई वाह ! मानो बच्चा हो—जो मिल जाये उसीमें खुश।"

मालती—"लेकिन मुझे तो भई बहुत गुस्सा आता। मैं तो कभी बात भी न करती।"

शान्ता—[कुछ गम्भीर होकर] "हाँ भई, तुम्हें शायद गुस्सा आता

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

या न आता तो कमसे कम दिखाती ज़रूर। [लम्बी साँसके साथ] लेकिन यहाँ यह सब नहीं चलता। मैं ग़ुस्सा करूँ तो वह दुगुना ग़ुस्सा करेंगे। रूठा वहाँ जाता है जहाँ कोई मनानेवाला हो—जैसे माँके साथ····माँके साथ मैं भी बहुत रूठा करती थी···· [सहसा खिलखिलाकर] दीवारके साथ और कविके साथ भी भला रूठा जाता है ?"

सुधा—"अच्छा, तुम कभी रोती नहीं ? ज़रूर रोती होगी।"

शान्ता—[थोड़ी देर बाद] "रोती तो हूँ शायद। लेकिन तुम लोगोंकी तरह शायद नहीं। कोई मेरे आँसू पोंछकर मुझे मनावेगा, यह सोचकर नहीं। कभी रातमें अँधेरेमें रो लेती हूँगी—अन्धकारको परचानेके लिए····[गला भारी हो आता है।]

[बालकका प्रवेश]

बालक—"माँ, माँ" मैं ज़रा साइकिल चला लूँ ?"

शान्ता—[सुस्थ होकर] "नहीं बेटा, अब रातमें—"

बालक—"हाँ, माँ, यहीं थोड़ी दूर ही रहूँगा–बेयराको साथ ले जाऊँगा–"

शान्ता—"अच्छा जा ! पर दूर मत जाना।"

बालक—" अहा हा—जायेंगे—जायेंगे !"

[बालक उछलता हुआ जाता है।]

शान्ता—[मानो स्वगत] "यह भी मेरे साथ कभी-कभी बहुत रूठता है, मैं मना लेती हूँ।"

सुरेश—"बड़ा अच्छा लड़का है। शान्ता भाभी, तुम्हारा तो मन यही बहलाये रखता होगा।"

शान्ता—"हाँ, सो तो है ही।"

सुधा—"और जो तङ्ग करता होगा सो ?"

शान्ता—"तङ्ग तो बच्चे करते ही हैं, पर उससे कोई तङ्ग होता थोड़े ही है। मैं तो सोचती हूँ, मुन्नेके कारण मुझे दुनियाके हिसाब-किताब

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

से छुट्टी मिली—क्या पाया क्या नहीं पाया इसका लेखा-जोखा रखनेकी ज़रूरत नहीं अब मुझे। मैं समझती हूँ कि जीवन जो देता है मैंने पा लिया····''

मालती—''कैसा हिसाब-किताब ?''

शान्ता—''हिसाब-किताब नहीं तो और क्या! कहनेको तो यह सब भावना-आकांक्षा, मन और अध्यात्मकी बातें हैं, लेकिन असलमें तो हिसाब-किताब ही है न। कितना रंग, कितना उजाला, कितना अँधेरा, कितना प्रकाश, कितनी छाया, कितना प्यार—कितना आराम, कितना परिश्रम जीवनमें मिला····जो लोग रोमांसके पंखोंपर उड़ते हैं, वे भी इस हिसाब-किताबको भूलते नहीं। और इस जोड़-बाक़ीमें अगर मुनाफ़ा देखें तो ख़ुश होते हैं, घाटा देखें तो जीवनके प्रति असन्तोष उन्हे होता है। सुधा, तुम क्या सोचती हो मैं नहीं जानती, पर मैं तो भावनाके हिंडोले नहीं झूलती। मेरा जीवन शान्त, स्थिर हो गया है क्योंकि मैं प्रिया नहीं, माता हूँ। [**स्वर क्रमशः भावाविष्ट होता जाता है।**] मैं स्नेह और आदरकी अपेक्षामें रहनेवाली नहीं, स्नेह देनेवाली हूँ। मैं सुबहसे शाम तक जो कुछ करनेका है करती जाती हूँ—जागती हूँ, उठती हूँ, खिलाती हूँ, खाती हूँ, देखती हूँ, सुनती हूँ—और मैं किसी चीज़का, किसी बातका प्रतिवाद नहीं करती। प्रतिवाद कोई किसका करे—जीवन कोई बुझौवल थोड़े ही है, वह सबसे पहले अनुभव है !''

सुरेश—[**मानो अधिक गम्भीर बातको हँसीमें टालनेका यत्न करता हुआ**] ''जीवन बुझौवल है कि नहीं, यह तो अलग बात है, पर भाभी, तुम ज़रूर हो।''

शान्ता—[**उसी प्रकार आविष्ट**] ''हूँगी। ज़रूर हूँगी—इसीलिए कि मुझमें बुझौवल कहीं नहीं है—मैं सुलझाव ही सुलझाव रह गयी

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

हूँ। 'दो' पहेली है जिसका सुलझाव है 'एक' और 'एक'। लेकिन 'एक'—'एक' भी पहेली है इसीलिए कि उसका आगे सुलझाव नहीं है, वह निरी इकाई है—होने और न होनेकी सीमा-रेखा। उसे सुलझाना चाहनेका मतलब है उसे मिटा ही देना।"

सुरेश—[प्रयत्न-पूर्वक विषयको बदल देनेके लिए] "शान्ता भाभी, सामनेका बग़ीचा तो देखा, पीछे भी कुछ बना है ?"

शान्ता—[सँभलकर, बदले हुए स्वरमें] अभी तो बन रहा है। मगर अँधेरेमें दीखेगा क्या ? [ज़ोरसे] माली !"

माली—"हाँ, माँजी ? का हुकुम है माँजी ?"

शान्ता—"उधर क्यारीमें पानी लगा दिया है ?"

माली—"हाँ माँजी—"

शान्ता—"देखोगे तुम लोग ? चलो।"

[उधर जाते हुए स्वर]

सुधा—"उधर चबूतरेके आस-पास तो बेला फूला होगा ?"

सुरेश—"अहा, यह करौंदेकी झाड़ी तो बड़ी सुन्दर है ! यहीं बैठकर कविजी कविता लिखते होंगे न ?"

शान्ता—"सो मैं क्या जानूँ कि वह कहाँ बैठकर लिखते हैं ? लेकिन तुम लोग तो बैठो इस चबूतरेपर।"

सुधा—"तभी तो मैंने तुमसे पूछा था कि तुम घरपर रहती हो न ?"

मालती—"फिर तुमने शुरू की वही बात ? कविकी प्रिया घर नहीं रहती। घरपर रहे तो वह प्रिया नहीं है। आजतक कभी सुना है कि किसी कविने प्रियाको सामने बिठाकर काव्य लिखा हो और वह काव्य सफल हुआ हो ? कवि एक अपार्थिव प्रेमका चित्र मन में लिये उस चित्रसे जीवनका मिलान करते हुए चलता है—और जीवनको घटिया पाता है। उसकी एक कल्पनाकी प्रिया होती है

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

जिसे वह सारी दुनियामें ढूँढ़ता फिरता है और कभी पाता नहीं। जीवनमें जो प्रिया मिलती है वह तो मानवी है, उसके कल्पनालोक की देवी थोड़े ही है। वह देवी जो सोच सकती है—यानी कविकी कल्पनामें—वह कोई पार्थिव प्रिया नहीं सोचती, जो कह सकती है, जैसे-जैसे प्रेम कर सकती है, वह कोई हाड़-मांसकी प्रिया क्या कर पायेगी ! तभी तो कवि लोग ऐसे तोता-चश्म होते हैं–अगर उन्हें कल्पनाके प्रति सच्चे रहना है तो फिर वास्तवसे तो मन फेरना ही होगा, क्योंकि वास्तव तो जिस चीज़को वह छूते हैं वही पाते हैं कि निरी मिट्टी है, और मिट्टीको ही प्यार करें तो फिर कल्पना बिचारी क्या हो ? किसी भी बड़े कविका जीवन ले लो, उसकी सारी ज़िन्दगी एक खोज है जिसका नतीजा केवल इतना है कि 'नहीं। यह नहीं। यह भी नहीं। यह भी नहीं।' इसी कभी न मिटनेवाली खोजको, कभी न बुझनेवाली प्यासको, कोई कूँचीसे आँकता है, कोई क़लमसे लिखता है, कोई छन्दोंमें बाँधता है; और लोग देख-सुनकर कहते हैं 'कितना सुन्दर ! कितना मार्मिक ! कैसा दिव्य प्रेम !' कविको जीवनमें आनन्द नहीं मिलता पर यश तो मिलता है, उनकी कीर्ति अमर हो जाती है। पर कविकी स्त्री–मृत्युके पार अमर होनेकी बात तो दूर, वह तो जीवनमें भी—"

सुधा—"भई मालती, तुमने तो कमाल कर दिया। अब तो तुम्हें किसी मीटिंगमें ले जाकर मंचपर खड़ा कर देना चाहिए। ऐसी फूल-झड़ी-सी लगा दी तुमने तो—"

मालती—"तुम्हें तो हर वक़्त ठट्ठा ही सूझता है। पूछो न शान्तासे, वह भी तो हमारी तुम्हारी उम्रकी है; कोई बात है भला कि ऐसी दार्शनिकोंकी-सी बातें करे ? शान्त, स्थिर—होने और न होने की सीमा-रेखा ! हुँः ! मुझे तो ऐसा गुस्सा आ रहा है इन

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

कवियोंपर कि—"

सुरेश—"सो तो दीख ही रहा है । लेकिन अब आप गुस्सा मत कीजिए; चाहे तो इस करौंदेकी छाँहमें बैठकर कविता कीजिए । [सुधासे] क्यों जी, अब चलना चाहिए न ?"

सुधा—"हाँ, बड़ी देर हुई । अच्छा शान्ता बहन, फिर आयेंगे कभी—कविजीसे कह देना, कविता ज़रूर सुनेंगे ।"

सुरेश—"नमस्ते, भाभी ।"

शान्ता—"हाँ ज़रूर आना, बहन । वह होंगे तो ज़रूर सुनायेंगे ही तुम लोगोंको । नमस्ते, सुरेश भैया—"

मालती—"मैं भी तो चल रही हूँ भई—कि मुझे छोड़े जा रहे हो ?"

सुधा—[हँसती हुई] "हमने सोचा शायद तुम्हारा व्याख्यान अभी समाप्त न हुआ हो !"

मालती—"अच्छा शान्ता, मेरी किसी बातका गुस्सा मत करना—"

शान्ता—"वाह गुस्सा कैसा । फिर आना !"

मालती—"हाँ । नमस्ते !"

[जाते हैं]

शान्ता—[स्वगत] "अब ? [धीरे-धीरे गुनगुनाने लगती है]

"सखी मेरी नींद नसानी हो ।
पियाको पन्थ निहारते सब रैन बिहानी हो ।
बिन देखे कल ना परे, मेरी नींद नसानी हो ।
सखी मेरी नींद नसानी हो—
पियाको पन्थ निहारते सब रैन बिहानी हो ।
रैन बिहानी हो···।"

शान्ता—[सहसा चुप होकर] आ गये ! [ज़ोरसे] "बैरा ! चाय तैयार करो ! अरे नहीं—[चौंककर और फिर सुस्थ होकर] ओह, अशोक !"

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

अशोक—"पहचानती भी नहीं, दीदी ?"

शान्ता—"मैं समझी थी—"

अशोक—"क्या समझी थीं ?"

शान्ता—"कुछ नहीं। आओ, बैठो।"

अशोक—[बैठता है] "शान्ता दीदी, अँधेरेमें बैठी क्या कर रही थीं ?"

शान्ता—"कुछ नहीं, आकाश देख रही थी। मुझे साँझके बाद आकाश देखना बहुत अच्छा लगता है। कैसे धीरे-धीरे अन्धकार घिरता आता है और धीरे-धीरे सब कुछपर छा जाता है....इस जीवनके, इस लोकके सब आकार मिट जाते हैं एक मौन निःस्तब्धतामें, और फिर दूर—कितनी दूर!—उदय हो आते हैं कितने नये लोक और उनके अपने नये आकार! लोग सूर्यास्तके रंगोंको सुन्दर बताते हैं, लेकिन उससे भी सुन्दर होता है सूर्यास्तकी भी लालिमाका मिटना—"

अशोक—"रोज़ देखते-देखते ऊबती नहीं, एक ही दृश्य ?"

शान्ता—"ऊबना कैसा ? यह मिटनेका खेल तो नित नया है—यही तो एक खेल है जो हमेशा नया है। और इसे देखते-देखते इनसान विभोर होकर अपनेको निरे जीवनपर छोड़ देता है—हम अपनेको जीवनपर छोड़ दे सकते हैं, तभी तो हम जी सकते हैं, उसका हल खोजना ही तो उसे पहेली बनाना है।"

अशोक—"दीदी, मैं आया तब तुम शायद गा रही थीं न ? मैं सोचता हूँ, यहाँ चुपचाप बैठकर गाना सुनूँगा।"

बेयरा—"चाय तैयार है, सा'ब।"

शान्ता—"लो, पहले चाय पियो।"

अशोक—"दीदी, यही तो बात मुझे अच्छी नहीं लगती। यह भी कोई चायका समय है भला ? और मैं कोई अजनबी तो हूँ नहीं जो खातिर करें—"

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

शान्ता—"तुम्हीं थोड़े ही पियोगे ? मैं भी तो लूँगी—"

अशोक—"उससे क्या ? रातके तो नौ बजे हैं। इस समय आपने मेरे लिए चाय क्यों मँगायी ?'

शान्ता—"आपके लिए क्यों ? चायका आर्डर तो मैं आपके आनेसे पहले दे चुकी थी !"

अशोक—"ओह, तो आप लीजिए। मैं तब तक आपका आकाश देखता हूँ—मैं तो चाय लूँगा नहीं।"

शान्ता—"नहीं, मैं तो चाय केवल साथके लिए पी लेती हूँ—मुझे भी इच्छा नहीं रही।"

अशोक—"यह अच्छी रही। आपने चाय मँगायी भी थी, और अब ले भी नहीं रहीं।"

शान्ता—"मैंने अपने लिए नहीं मँगायी थी।"

[बेयरा आता है]

अशोक—"तब ?"

बेयरा—"जी सा'ब—"

शान्ता—"चाय उठा ले जाओ। और बाबा वापस आ गया है न ? साइकिल अन्दर रख दिया है ?"

बेयरा—"जी। बाबा सोने जाते हैं।"

[ट्रे समेट ले जाता है]

अशोक—"शान्ता दीदी, आप जो गाना गा रही थीं, वही गाइए।"

शान्ता—"मैं क्या गाती हूँ। वह तो यों ही कभी गुनगुनाती हूँ—"

अशोक—"जो हो—"

[शान्ता बाहरकी ओर जाती है, आकाशकी ओर देखती है। उसका स्वर दूरसे आता है।]

शान्ता—"अच्छी बात है, मैं तो तारे देखते-देखते कभी गुनगुनाया करती हूँ—[धीरे-धीरे गाती है]

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

"सखी मेरी नींद नसानी हो।
पियाको पन्थ निहारते सब रैन बिहानी हो।
बिन देखे कल ना परे, मेरी नींद नसानी हो।
सखी मेरी नींद नसानी हो—
पियाको पन्थ निहारते सब रैन बिहानी हो।
रैन बिहानी हो…"

[गाते-गाते शान्ताका गला भारी हो आता है—फिर आवाज़ सहसा टूट जाती है। एक बार गला साफ़ करनेका शब्द, फिर एक कड़ी गाती है, फिर गला रुँधता है और वह सहसा चुप हो जाती है।]

अशोक—[सहसा चिन्तित] "क्या बात है, शान्ता दी—"

[बहुत हलकी-सी सिसकीका शब्द]

अशोक—[धीमे, कोमल स्वरसे] "शान्ता दी—"

[क्षण भर मौन]

[बाहरसे निकट आता ताँगेका शब्द और घण्टी]

अशोक—[शान्ताको थोड़ी देर अकेली छोड़ देना उचित समझकर बहाना बनाता हुआ-सा] "शान्ता दी, मैं ज़रा मुन्नेको देख आऊँ, नहीं तो अभी सो जायेगा। अभी आया।"

[बाहर दूरीपर ही कविका शब्द, क्रमशः निकट आता हुआ]

कवि—"ओह, शान्ता। मुझे अभी तत्काल फिर बाहर जाना होगा, ज़रा जल्दीसे एक प्याला चाय दे दोगी—"

शान्ता—[सँभलकर] "जी।"

[भीतर जाती है]

[भीतरसे बालककी हँसीका शब्द]

बालक—[भीतरसे] "बस; अशोक मामा, गिलगिली मत चलाइए—"

अशोक—"तुम बोलते क्यों नहीं?"

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

कवि—"अरे कौन, अशोक ? [ज़ोरसे] अशोक !"

अशोक—[भीतरसे] "आ गये आप ?"

कवि—"अरे यहीं आओ यार, दो मिनिट ग़प्प हो करें, अभी तो चला जाऊँगा ।"

अशोक—[निकट, विस्मित स्वरमें] "कहाँ ?"

कवि—"यहीं ज़रा बैठो । चाय पियोगे ?"

अशोक—"नहीं, इस समय नहीं ।"

[भीतरसे शान्ताके गुनगुनानेका स्वर, जो क्रमशः कुछ स्पष्ट हो जाता है]

शान्ता—[गाती है]

"सखी री नींद नसानी हो ।
पियाको पन्थ निहारते सब रैन बिहानी हो ।
ज्यों चातक घनको रटै, मछरी जिमि पानी हो ।
मीरा व्याकुल बिरहिनी, सुध-बुध बिसरानी हो ॥"

कवि—[अर्ध स्वगत] "फिर वही गाना ।"

अशोक—"क्यों, आपको गाना अच्छा नहीं लगता ?"

कवि—"नहीं, गाना क्यों न अच्छा लगेगा, पर शान्ता वही एक ही रोने-रोने सुर गाती है ।" [सहसा चुप हो जाता है ।]

[शान्ताका स्वर स्पष्ट हो गया है, वह पास आ रही है ।]

"सखी मेरी नींद नसानी हो ।
पियाको पन्थ निहारते सब रैन—"

[गान सहसा बन्द हो जाता है ।]

शान्ता—"लीजिए, चाय !"

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

नगा पर्वतकी एक घटना

"मेरी समझमें तो समस्या इससे अधिक गहरी है। आप उसे जिस रूपमें देख रहे हैं, उतनी ही बात होती तब तो कोई बात न थी।" कप्तान अर्जुनने समर्थनके लिए कप्तान वासुदेवन्‌की ओर देखा।

"हाँ, फ़ौजी जीवन आदमीको इतना अनुशासनाधीन बना देता है कि फ़ायरका हुक्म मिलते ही वह गोली दाग़ देता है, उचित-अनुचित कुछ नहीं सोचता; यह तो कोई इतनी बड़ी बुराई नहीं है। क्योंकि ऐसी डिसिप्लिन तो हम चाहते ही हैं, और जो चाहा जाये उसका हो जाना क्यों बुरा?"

"पर चाहना तो बुरा हो सकता है?" कप्तान चोपड़ा बोले, "क्या आदमीको ड्रिल कर-करके ऐसा यन्त्र बना देना, कि उसकी मारल जजमेंट बिलकुल बेहोश हो जाये, बड़ा पाप नहीं है? यही तो फ़ौजी जीवन करता है?"

"इससे किसे इनकार है? अपनी जजमेण्टको दूसरोंकी जजमेण्टके अधीन कर सकना सिपाहीगीरीके लिए ज़रूरी है। लेकिन ऐसा सिर्फ़ फ़ौज में ही तो नहीं होता; यह तो हमें हर क्षेत्रमें करना पड़ता है।" वासुदेवन्‌ने उत्तर दिया।

"और फिर यह वैसे भी किसी पेशेका दोष नहीं, यह तो मानवका ही दोष है कि वह ऐसा करना चाहता है। मानवकी मारल जजमेण्टकी हम चाहे जितनी दुहाई दें, असलमें वह इतने गहरेमें मारल नहीं है कि उस जजमेण्टको दूसरोंपर छोड़नेमें खुश न हो; उसके लिए यह जजमेण्टका मामला एक गले पड़ी आफ़त है, जिसे वह जितनी जल्दी दूसरेके गले डाल सके उतना ही अच्छा। इसलिए मैं कहता हूँ कि आप समस्याको

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

आसान करके देख रहे हैं। फ़ौजका पेशा मानवमें कोई नया ऐब पैदा नहीं कर देता, उसमें जो सहज दुर्बलता है उससे लाभ उठाकर चलता है। यह बल्कि ज़्यादा बड़ी आलोचना है। यह क्या कम बात है कि छह हज़ार बरसकी संस्कृतिसे—वासुदेवन्, छह हज़ार बरस ठीक है न ?—पैदा हुआ नैतिक बोध छह महीनेकी फ़ौजी ड्रिलसे ऐसा पस्त हो जाये कि हम बिना सोचे-समझे चाहे जिसको जान ले डालें ?"

"नहीं, बोध बिलकुल तो नहीं मर जाता। ऐसे भी तो केस होते हैं जहाँ फ़ौज गोली चलानेसे इनकार कर देती है, जैसे सिविलियनोंपर, या औरतोंपर—आखिर वह नैतिक बोध ही तो होता है न ?"

"हाँ, मगर वह इसलिए कि डिसिप्लिनमें ऐसे अपवाद रखे जाते हैं। शिक्षामें दुश्मनकी बात सामने लायी जाती है, और आम-तौरपर 'दुश्मन' का अर्थ फ़ौजी ही लिया जाता है। बल्कि सिविलियन शत्रु नहीं है, या कि उसे नरमीसे जीता जावे, ऐसी शिक्षा भी दी जाती है।"

"यानी आप कह रहे हैं कि अगर ट्रेनिंगमें यह भी होता कि दुश्मन दुश्मन ही नहीं, दुश्मनके सिविलियन और औरत-बच्चे भी दुश्मन हैं, तो उनको भी मारनेमें फ़ौजीको झिझक न होती ?"

"बिलकुल, और इस सभ्य लड़ाईमें इसकी मिसालें भी कम नहीं हैं। जर्मनीके कंसेंट्रेशन कैम्पोंमें—"

"तो क्या नैतिक जजमेण्ट बिलकुल मर जाता है ? मगर—"

"मरता है, या बेहोश भी होता है कि नहीं, पता नहीं। कहें कि स्थगित हो जाता है या दूसरेपर टाल दिया जाता है। और टाल देना मानव-मात्रका सहज स्वभाव है, फ़ौजका उसमें कोई हाथ नहीं।"

"मेजर वर्धन, आपकी क्या राय है ?"

वासुदेवन् कुछ कहना चाहते थे। पर मेजरसे प्रश्न पूछा गया था, उत्तरके लिए रुके रहे। मेजर वर्धनने सहसा उत्तर नहीं दिया; अन्य अफ़सरोंने देखा कि वह चुपचाप आगेको झुके हुए आगकी ओर स्थिर दृष्टि

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

से देख रहे हैं। आगकी लपटें जैसे-जैसे उठती-गिरती थीं, वैसे-वैसे उनके चेहरेपर एक अजीब धूप-छाँह खेल उठती थी, उनके चेहरेपर एक क्लान्ति, एक उदासीनताका भाव तो था, पर उसके पीछे जैसे कहीं एक धीर करुणा भी छिपी हुई थी, ऐसी करुणा जो जानती है कि वह अपर्याप्त है, लेकिन फिर भी हार नहीं मानती; जैसे निर्धन माँ, पूस-माघकी सर्दीमें अपने सर्वथा अपर्याप्त फटे आँचलको बच्चेपर उढ़ाकर, आँचलके सहारे उतना नहीं जितना अपनी लगनके सहारे उसे ठिठुरनेसे बचा लेना चाहती हो····

फ़ौजसे छुट्टी पाकर ये परिचित अफ़सर कभी-कभी एक्स-सोल्जर्स क्लब के छोटे कमरेमें आ बैठते थे। तीनों कप्तानोंने अपनेको सिविलियन जीवन में भी कप्तान कहनेके अधिकारका उपयोग किया था; मेजर वर्धन अब अपनी 'मुफ़्ती' पोशाकमें 'मिस्टर वर्धन' रहना ही पसन्द करते थे पर अभ्यासवश बाक़ी उन्हें मेजर कह ही जाते थे···

सहसा सन्नाटेमें जैसे चौंककर वह बोले—"मेरी राय तो तुम लोग जानते हो। असलमें हम लोग युद्धकी ओर ही ध्यान दें, तो ज़्यादा अच्छा है, फ़ौजी जीवनके दोष देखनेसे हमारी दृष्टि स्खलित हो जाती है।"

"लेकिन क्या एक-दूसरेमें निहित नहीं है? फ़ौजी जीवन और युद्धको अलग कैसे किया जाये—युद्धके लिए ही तो फ़ौजी जीवन है?"

"हाँ, लेकिन यह साध्य और साधन वाले झमेलेमें पड़ना है। यह ठीक है कि साधनकी भी परख होनी चाहिए; अच्छे साध्यके लिए लगकर भी बुरा साधन बुरा है। मगर असलमें तो साध्य ही बुरा है। साधन तो शायद—उतना बुरा न भी हो।"

"यानी आप नहीं मानते कि फ़ौजी जीवन आदमीको नीचे खींचता है?"

"हाँ—और नहीं। अनुशासन उसे मशीन—या कि सधा हुआ पशु या शिशु बनाता है, यह ठीक है। लेकिन एक तो हम इच्छासे यह परिणाम चाहते हैं, जैसा कि वासुदेवन्‌ने कहा। दूसरे, सधा हुआ पशु मानवसे ऐसा बुरा ही है, यह दावा करना दम्भ नहीं है?"

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

तीनोंने कुछ चौंकी हुई दृष्टिसे मेजरकी ओर देखा, मानो कहना चाहते हों, "आपसे ऐसी बातकी आशा नहीं थी।"

मेजर वर्धनने कहा : "आप सोचते होंगे कि मैं सिनिकल हो रहा हूँ। नहीं। सचमुच सधे पशुके लिए मेरे मनमें सम्मान है और यह भी मैं मानता हूँ कि वह उतना अधिक बुरा नहीं हो सकता जितना कि युद्धकी परिस्थितियोंमें मनुष्य हो सकता है, और मनुष्य भी कोई विकृत मन वाला खूँख़ार प्राणी नहीं; सीधा-सादा, भाई-बहन, जोरू-बच्चोंके बीच रहने वाला, दससे छह तक दफ़्तरमें—या छहसे दस तक खेतमें—खटनेवाला अत्यन्त मामूली मनुष्य, जैसे कि फ़ौजी आम तौरपर होते हैं। इसीलिए जहाँ आदमी पशु बन जाता है, वहाँ मैं उसे उतना ख़तरनाक नहीं मानता। फ़ौजको डिसिप्लिन केवल इतना करती है, इससे बदतर कुछ नहीं। लेकिन युद्ध...."

"यह तो ठीक है कि युद्ध जो करता है, वह फ़ौजी जीवन नहीं करता। मगर युद्धसे आदमीके गुण भी तो उभरते हैं...." चोपड़ाने कहा।

"हाँ, वैसा भी होता है। और यह भी होता है कि जिनके गुण उभरते हैं वे आगे जाकर मर जाते हैं, और जिनके ऐब उभरते हैं वे जान बचाकर घर लौटते हैं। **'हतो वा प्राप्स्यसे स्वर्गम्'** आज भी उतना ही सच है, मगर **'जित्वा वा मोक्ष्यसे महीम्'**—न मालूम! बल्कि जयी आजकल क्या भोगता है, कोई कह नहीं सकता।"

"लेकिन आप यह क्यों कहते हैं कि मनुष्य पशुसे बदतर हो जाता है?"

"यों तो 'मनुष्य जब पशु होता है तब पशुसे बदतर होता है"'.... यह आपने सुना ही है। क्योंकि पशु पशु होकर अपने पदपर है, और मनुष्य अपदस्थ, पतित। मगर आपको इसपर आपत्ति क्यों है? यह बताइए कि जब आप कहते हैं कि मनुष्य सधा हुआ पशु है, तब आपका अभिप्राय क्या होता है?"

कप्तान अर्जुन धीरे-धीरे बोले—"यही कि वह अपना विवेक छोड़

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

कर सिर्फ़ अनुशासनपर चलता है····हुक्म दो 'गोली मारो' तो गोली मार देगा, 'आगमें कूदो' तो आगमें कूद पड़ेगा। कभी झिझक भी हो सकती है, डरसे, पर अगर पशु ठीक सधा है तो डर रहते भी कूद पड़ेगा।"

"और अनुशासनसे डरको दबानेके कारण ही फ़ौजमें इतने मेण्टल केस होते हैं"— चोपड़ाने दाद दी।

"हाँ, ठीक है। तो सधा हुआ मानव-पशु अपनी सहज इच्छा या विवेक के ऊपर दूसरेकी इच्छा या विवेकको मानकर उसके अनुसार चलता है! यानी मानवका जो अपने विवेकको अमलमें लानेका कर्तव्य है; उसे वह—चलिए, ताक़में रख देता है कुछ कालके लिए। यह फ़ौजी अनुशासनकी देन है। पर अगर वह पशु अनुशासनके नामपर अपने नैतिक बोधको, सदसद्-विवेकको ताक़में रख दे, और फिर सहज पशु-प्रवृत्तिकी झोंकमें अनुशासन-को भी भुला दे····तब ? तब तो वह पशुसे बदतर है न ?"

वासुदेवन्‌ने तनिक मुसकराकर कहा : "पशु-प्रवृत्तिमें बहनेवाला तो पशु ही हुआ; पशुसे बदतर कैसे कहेंगे—"

"हाँ, मगर सधा हुआ पशु वह नहीं है; और हम यह मान ले रहे हैं कि अशिक्षित पशु शिक्षित पशुसे बुरा है। और युद्ध फ़ौजके शिक्षित पशुको अशिक्षित बना देता है।"

वासुदेवन्‌ने बातको हलका करनेके लिए कहा, "बर्न्सने कॉलेजकी शिक्षा की बुराई तो की है पर फ़ौजी शिक्षाकी ओर उसका ध्यान नहीं गया !"

चोपड़ाने दिलचस्पीसे पूछा, "क्या प्रसंग है यह ?"

"वह है न—कि अहम्मन्य मूर्ख कॉलेजोंमें अपना दिमाग़ खराब करते हैं—दाखिल होते हैं बछेड़े लेकिन निकलते हैं पूरे गधे[1]—"

---

१. A set of dull conceited hashes
Confuse their brains in college classes,
They gang in stirks and come out asses.
—Rodert Burns

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

"हाँ !" कहकर चोपड़ाने ठहाका लगाया ।

"मगर एक बात है, बर्न्सने पशुको और घटिया पशु बनाया, मनुष्यको पशु नहीं ।"

"हाँ, क्योंकि वह कॉलेजको पढ़ाईकी बात थी—उसमें इससे ज़्यादा ताक़त नहीं है । मगर जंग"—मेजर वर्धनने फिर वातावरण गम्भीर कर दिया । फिर मानो उन्हें स्वयं ध्यान आया कि क्लबके सामाजिक वातावरणको हलका ही रहना चाहिए, और वह सहसा चुप हो गये ।

कप्तान चोपड़ा थोड़ी देर उन्हें देखते रहे, मानो सोच रहे हों कि उस मौनको तोड़ना उचित है या नहीं । फिर उन्होंने पूछ ही डाला, "मेजर वर्धन, आपकी बातसे मैं पूरी तरह कनविंस तो नहीं हुआ; मगर ऐसा लगता है कि आप किसी घटनाके परिणामसे ऐसा कह रहे हैं । और घटनाओंका तर्क भी एक अलग तर्क है ही ।"

कप्तान अर्जुन भी बढ़ावा देते हुए बोले, "और अपने ढंगका अकाट्य तर्क ! सुनाइए, हम सब सुन रहे हैं !"

मेजर वर्धनने एक बार तीनोंकी ओर देखा; फिर एक स्थिर दृष्टिसे आगकी ओर देखकर बोले, "हाँ घटनाका अपना अलग तर्क होता है । जो घटना अभी मेरे ध्यानमें आयी थी, वह मेरी बातकी पुष्टि करती है या नहीं, न जाने; मगर उसको समझा जा सकता है तो उसीके भीतरी तर्कके आधारपर; नहीं तो इन्सान ऐसा अनरीज़नेब्ल कैसे हो सकता है समझ नहीं आता । आखिर पशु-बुद्धि भी तो बुद्धि है—"

थोड़ी देर सन्नाटा रहा । चारों आगकी ओर देखते रहे । मेजर वर्धनके चेहरेकी रेखाएँ कड़ी हो आयीं, मानो उनकी स्थिर दृष्टि आगमें कुछ देख रही हो और निश्चलताके जोरसे उसे पकड़े रहना चाहती हो''''फिर उनकी मुद्रा तनिक-सी पसीजती जान पड़ी, मानो बात कहनेका ही निश्चय करके उन्हें कुछ तसल्ली मिली हो ।

"बात कोहीमाको है । यानी ठीक कोहीमाकी नहीं, कोहीमा और

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

जसामीके बीचके इलाक़ेकी डि-चिङ्के पार जो खुमनुबाटोका शिखर और जंगल है, वहींकी। मैं कोहोमाकी इसलिए कहता हूँ कि मैं तब ३३ डिवि-ज़नके साथ कोहीमा और ज़ुबजाके बीच डिव हेडक्वाटरमें पड़ा हुआ था।" वह क्षण भर रुके, फिर कहने लगे, "वासुदेवन्, तुम तो आगे थे—और अर्जुन तो डीमापुरमें रहे—यह तो तुम्हें मालूम है कि मैं डीमापुरसे इण्ट-लिजेंसके लिए आगे गया था—"

"हाँ, वह तो ऐसा गुपचुप कुछ काम था कि हम सबको बड़ा कौतूहल रहा। फिर हमने सोच लिया कि कोहीमाके पार जापानी लाइनके पीछे जासूसी करने जा रहे हैं। यह तो हमें मालूम था कि नगा स्काउटोंकी एक टोली तैयार हुई है, और यह भी सुना था कि उसके कुछ जवान आपके साथ जायेंगे—"

"हाँ, था तो गुपचुप ही। बल्कि जो बात बताने जा रहा हूँ, वह भी उसी दरजेकी है—टॉप सीक्रेट। और अगर वह मेरा या हिन्दुस्तानी फ़ौज का सीक्रेट रहा होता तो मैं शायद अब भी उसकी बात न करता—पता नहीं अब भी वह कहानी कहना फ़ौजी क़ानूनके ख़िलाफ़ है कि नहीं। पर जो हो, सुनकर तुम लोग खुद तय करना कि आगे कहो जाये या नहीं। मुझे तो यह बात अचानक ही एक अमरीकन कर्नलसे पता लगी—हालाँकि थी शुरूमें वह मेरी ही बात।"

"आप हमें भड़कानेके लिए पहेलियाँ बुझा रहे हैं?"

"नहीं। तुम्हें मालूम नहीं, उन दिनों जापानियोंके साथ बहुत-से आज़ाद हिन्दी भी शामिल हो गये थे; इससे अँग्रेज़ोंके मनमें बड़ा डर बैठा हुआ था। भेद-भाव तो यों भी था, पर इस डरसे इण्टलिजेंसके बहुत-से काम सिर्फ़ अँग्रेज़ों-अमरीकनोंको सौंपे जा रहे थे, भले ही हिन्दुस्तानी उसके लिए ज़्यादा उपयुक्त हों। मैं भी जो नगा जासूसोंके साथ गया तो मेरे साथ एक अमरीकी कर्नल भी था, अमरीकी इण्टलिजेंसका, जो जापानी भाषा भी जानता था। और हम गये भी उस इलाक़ेमें, जिधर

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

सिर्फ़ जापानी थे कोहीमासे उत्तर तेहँमत्सेमिन्यूवाले इलाक़ेमें। दक्षिणमें जहाँ यह खयाल था कि जापानियोंके साथ हिन्दी भी हैं वहाँ किसी हिन्दुस्तानीको नहीं भेजा गया—उधर सब ब्रिटिश अफ़सर थे।"

"हाँ।"

"तो इस इलाक़ेमें भटकते हुए मुझे एक बात सूझी। उधरका जंगल ऐसा दुर्गम था और अंगामी नगा जातियोंके इलाक़ेमें ऐसी खेती-पट्टी कुछ होती नहीं कि जापानी लोग लूट-खसोटकर खाते रहें और टिके रहें। आये तो वे इसी भरोसे थे कि पहले लूट-पाटकर खाते रहेंगे फिर डिमापुरपर क़ब्ज़ा हो जायेगा तो वहाँ ढेरों रसद जमा होगी ही—हम आखिरी वक़्त तक उसे बचानेका लोभ ज़रूर करेंगे। तो मुझे यह सूझा कि नगा पहाड़ियोंमें नगे तो कन्द-मूल और बूटियाँ खाकर रह भी लें, जापानी तो ये सब बातें जानेगा नहीं; जब नगा गाँवोंका थोड़ा-बहुत चावल और बकरी-कुत्ते खा चुकेगा तब भूखे पेट बड़ी जल्दी डिमारलाइज़ होगा। और वैसे अर्धबर्बरका हौसला जब गिरता है तो धीरे-धीरे फिसलता नहीं, एक दम नीचे आता है। ऐसेमें अगर उसमें यह प्रचार किया जाये कि वह आत्म-समर्पण कर दे तो उसकी जान भी बचेगी और खाना भी मिलेगा, तो—"

"हाँ, विकट लड़ाका था जापानी। पकड़ा नहीं जाता था—मरता था या आत्मघात कर लेता था। मैंने एक बार पाँछ-छह क़ैदी जापानी देखे—वैसा पस्त जन्तु मैंने कभी नहीं देखा होगा। उनकी आँख नहीं उठती थी। उन्हें क़ैदका दुख नहीं था, यह था कि वह आत्मघात न कर सके, पहले पकड़े गये। मगर यह भी बात थी कि उन्हें सिखाया जाता था कि पकड़े न जायें, नहीं तो बड़ी दुर्गति होगी और यह बात उनकी समझमें भी आ जाती थी, क्योंकि वे खुद क़ैदियोंकी बड़ी दुर्दशा करते थे—कम-से-कम कई बार तो ज़रूर। जो हो, मुझे यह सूझा कि यहाँ खाइयोंमें जो दो सौ-तीन सौ जापानी कीचड़, मच्छर, जोकोंमें पड़े सड़ रहे हैं, तिसपर खानेको

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

चावल-मांस कुछ नहीं और पीनेको गँदला पानी जो पियो और पेचिशसे मरो; और एक बड़ी बात यह कि दुश्मन कहीं दीखता नहीं—क्योंकि उस घने जंगलमें वहाँ दिनमें भी अँधेरा-सा रहता था, दो सौ गज़ दूरपर दुश्मनकी खाइयाँ हो सकती थीं, और चिल्लायें तो एक-दूसरेकी आवाज़ सुन सकते थे।…तो ऐसी हालतमें अगर लाउड-स्पीकरसे जापानियोंमें प्रोपगेंडा किया जाये तो शायद बहुत असर हो—हत्याकाण्ड भी बचे। मुझे यह विचार ही उन जापानी क़ैदियोंको देखकर आया था, क्योंकि उन्हींसे जापानी बुलवानेकी बात सूझो थी।"

"मगर क़ैदी क्या कभी राज़ी होते?"

"यह तो कोशिश करनेकी बात थी। बादमें हुए भी। मैंने उस अमरीकी कर्नलको अपनी योजना बतायी तो उसने भी कहा कि कोशिश करके देखना चाहिए—उसने यह भी कहा कि उसके साथ दो अमरीकी सार्जेण्ट हैं जो वैसे तो जापानी हैं मगर अमरीकी नागरिक हैं और अमरीकी फ़ौजमें हैं; ये लोग खुद भी ब्राडकास्ट कर सकेंगे और करा भी सकेंगे—और ऐसी तो कई जगहें होंगी जहाँ सामने-सामने खाइयाँ हों। उसके प्रोत्साहनसे मैंने योजना बनाकर डीमापुरमें एरिया कमाण्डरके पास आगे जो. एच. क्यू. के लिए भेज दी। फिर बैठकर प्रतीक्षा करने लगा कि आगे कुछ हो। हफ़्ता हुआ, दो हफ़्ते हुए, तीन हफ़्ते हुए—महीना हो गया। मोर्चा सँभल गया, जापानी रुक गये, ३३ डिव हवाई जहाज़से जोरहाट पहुँचा और आगे बढ़ने लगा; सूने कोहीमापर दोनों ओरसे गोले बरसने लगे। कभी उनके ज़ीरो आकर बम गिरा गये, कभी हमारे टैंक बढ़े तो कोहीमाके परले मोड़ तक बढ़ते गये, मगर मोड़से मुड़ते ही पारकी पहाड़ीसे ऐसे ज़ोरकी गोला-बारी होती कि बस। तो हुआ यह कि बीचमें कोहीमा क़स्बेकी पहाड़ियोंपर न वे न हम, उधर परली पहाड़ीमें ऊपर नगा बस्तीमें जापानी, इधर जुब्ज़ाके आगेकी जंगल-ढँकी पहाड़ीपर हम। और मैं यह सोचता रहा कि जो. एच. क्यू. वाले इतनी देर कर रहे हैं—अमल

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

करनेका वक़्त तो फिर निकल जायेगा। अन्तमें मैंने जनरलको कहा कि याद दिलावें।"

"एक महीना तो बहुत होता है सचमुच—"

"रिमाइण्डरका जवाब चौथे दिन आ गया।" मेजर वर्धनने तनिक रुककर साथियोंकी ओर देखा। चोपड़ाने कुछ अधैर्यसे कहा, "क्या ?"

"कहा गया कि यह योजना 'आइडिया ब्रांच' को भेज दी गयी है। वहाँ उसपर विचार हो जायेगा, हमें आगे याद दिलाने या पूछनेकी ज़रूरत नहीं है।"

"यह खूब रही !"

"और दो हफ़्ते हो गये। अन्तमें मैंने समझ लिया कि मेरी योजना व्यावहारिक नहीं समझी गयी। मैंने भी उसे मनसे निकाल दिया। इस बीच उस अमरीकी कर्नलसे अलग भी हो गया था—डीमापुर वापस बुलाये जाकर वह किसी दूसरे और भी गुपचुप मिशनपर भेज दिया गया था, और मैं ३३ डिवके साथ कर दिया गया था; एडवान्सके लिए इलाक़ेकी जानकारी उन्हें देनेके लिए। ३३ डिव पूरा गोरा डिव था—लड़ाके अच्छे मगर नगा पर्वतके भूगोल और नगा जातिके मामलेमें बिलकुल सिफ़र। लेकिन डिवका हरावल जब कोहीमामें घुसा, और दो-तीन दिनमें मुर्दोंको हटाकर उस मटियामेट ढूहमें हमने किरमिचके वासे खड़े कर लिये, तो हमने पाया कि इधर डीमापुरसे एक अमरीकी अस्पताली टोली आयी और इधर ऊपरसे बीस-एक नगा बाँकोंको साथ लिये वही अमरीकी कर्नल। मुझे मालूम हुआ कि वह पहले तो डीमापुरसे रेलसे ही मरियानी चला गया था, वहाँसे मोकोक्चङ्की ओरसे नगा पर्वतोंमें घुसा, पहले आव जासूसोंके साथ, फिर अंगामियोंके; और उधरसे बढ़ता हुआ लोङ्सा से दक्खिनको उतरता हुआ चिपोकेटामीसे फाकेकेड्ज़ूमीकी ओर जा रहा था, खुई-वी तक गया भी था, लेकिन उसके आगेकी स्थिति स्पष्ट नहीं थी इसलिए लौट आया। अब अगर ३३ डिव कोहीमाके पूरब

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

जसामीवाली सड़कसे बढ़ेगा तो बीचके इलाक़ेका महत्त्व भी नहीं; जापानी या तो पीछे हटेगा या बीचमें फँस जायेगा, और अंगामी फिर किसीको छोड़नेके नहीं—एक तो यों ही वे परदेशीको धँसने नहीं देते, फिर जिसने उनके घर जलाये हों, खलिहान लूटे हों, औरतोंको बेइज्जत किया हो उनको तो वह भूनकर खा जायेंगे। बातचीतके सिलसिलेमें मैंने अपनी योजनाकी बात छेड़ी, और कहा कि जी. एच. क्यू. वाले भी अज़ीब हैं, जहाँ छह हफ़्ते आइडिया ब्रांच एक आइडियाको सेती रहती है। कर्नलने एक तीखी नज़र मुझपर डालकर कहा, 'ओ, फ़र्गेट इट् वर्धन।' मैंने फिर कहा, 'खैर, आइडिया तो अब गया ही, पर आख़िर जी० एच० क्यू० का संगठन क्या है ? न ही अच्छा हो आइडिया, एक बार आज़मा कर तो देखते ? फिर मैंने खुद आगे जाकर प्रयोग करनेके लिए वालंटियर किया था।' अबकी बार उसने और भी निश्चयात्मक स्वरमें कहा, 'आः पाइप डाउन !' और मेरे ज़िद करनेपर बोला, 'वह आइडिया सड़ा हुआ था—इट स्टैंक !'

"मुझे अचम्भा हुआ, कुछ धक्का भी लगा। मैंने कहा, 'कर्नल, जब मैंने पहले आपको बताया था तब तो आपको वह ऐसा सड़ा हुआ नहीं मालूम हुआ था—'

"अबकी बार उसने फिर मेरी ओर तीखी दृष्टिसे देखा, और पूछा, 'तुम्हें सचमुच नहीं मालूम कि उस आइडियाका क्या हुआ ?' मैंने और भी विस्मयसे कहा, 'नहीं तो—'

"तब वह बोला, 'आल राइट, आई टेल यू। वैसे जितना सिक्रेट वह तब था जब तुमने बताया था, उससे ज़्यादा सिक्रेट अब हो गया है—क्योंकि—वह आज़माया जा चुका—'

"मैं सन्नाटेमें आ गया। कब ?'—और—असफल हुआ।'

"मैंने पूछा, 'आपको कैसे मालूम है ?' बोला, 'वही मेरा हश-हश मिशन था।' "

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

तीनों श्रोताओंने चौंककर कहा, "रोयेली, मेजर वर्धन ! ऐसी बात थी !"

"हाँ, मैं हक्का-बक्का एक मिनिट उसकी ओर देखता रहा। फिर मैंने कहा, "मेरी कुछ समझमें नहीं आया, कर्नल ! शुरूसे कहिए।"

"वह कहने लगा, 'हाँ शुरूसे ही कहता हूँ। वैसे शुरू तो तुम्हीं जानते हो; तुम जो सोच रहे हो कि आइडिया ब्रांचवाले गुम होकर बैठ रहे, वह बात नहीं थी। लेकिन—' वह थोड़ा-सा झिझका लेकिन मैं उसका भाव ताड़ गया। मैंने कहा, 'ओह, मैं समझा। शायद उन्होंने सोचा कि इस आइडियाकी जाँच हिन्दुस्तानीको नहीं सौंपनी चाहिए। यही न ?"

"हाँ, मुझे डर है कि यही। जो हो, मुझे यही आज्ञा मिली। इधरसे तो मोकोक्चङ् गया, वहाँ आदेश मिला। उधरसे जो फ़ौजें आगे बढ़ रही थीं, सब ब्रिटिश ही थीं, थोड़ी-सी अमरीकी टुकड़ियाँ थीं, बस। उनके साथ बढ़ते हुए हम साटाखासे नीचे खुइ-वी पहुँचे, खुइ-वीके पास ही खुम-नुबाटो शिखर है और उसकी ढालपर भारी जंगल। दूसरी पार जुलहामीमें और साथाज़ूमीमें जापानी थे, यह हमें मालूम था, पर जंगलमें अजीब खिचड़ी थी। कहीं हमारी खाइयाँ, कहीं दुश्मनकी, हमें तो कुछ पता न लगता पर वे अंगामी जवान तो जैसे हवा सूँघकर दुश्मन पहचानते थे, उन्हींके भरोसे हम बढ़ते थे। यानी आइडियाकी जाँचके लिए वह आइडियल जगह थी।'

"मेरा कुतूहल बढ़ता जा रहा था। मैंने पूछा, 'फिर····जाँच हुई ?"

"हाँ, हुई।" उसने कहा; फिर कुछ सोचते हुए, 'मगर कैसी जाँच। यों तो खैर बहुत ठीक जगह थी। इधर जहाँ हमने लाउडस्पीकर फ़िट किये वहाँ टामियोंकी खाई थी। दो कम्पनियाँ सात दिनसे उस खाईमें थीं चार दिनसे बारिश होती रही थी और उनकी हालत ऐसी हो रही थी···· कि कुछ पूछो मत। तुम्हें तो कुछ खुद ही अनुभव है—कहकर वह थोड़ा

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

हँस दिया, क्योंकि कीचड़से लदफद कहीं रुककर सब कपड़े उतारकर जोंकें ढूँढ़नेका काम हम साथ कर चुके थे। मच्छरसे तो मच्छरक्रीम बचा लेती, पर कीचड़ और जोंकसे बचाव नहीं था! फिर उसने कहना शुरू किया, ''टामियोंकी हालत देखकर मैंने उन्हें बताया कि हम जापानियोंको सरेंडर करनेको कहनेवाले हैं—मैंने सोचा कि इससे उनके ऊबे और हारे हुए मनको कुछ सहारा मिलेगा। सात दिनसे वहाँ पड़े-पड़े उनका खाना-पीना-सोना सब खाईमें ही हो रहा था, इतने दिनमें उन्हें एक भी जापानी नहीं दीखा था। लेकिन बाहर निकल कर आगे बढ़ने या झाँकनेकी भी सख्त मनाही थी क्योंकि यह सब जानते थे कि सामने बहुत पास दुश्मन है। जापानीकी घातमें बैठे सड़ रहे हैं, पर जापानी है कि दीखकर नहीं देता, यही हाल था। उधर जापानियोंका भी ठीक यही हाल होगा, यह तय बात थी। बल्कि बदतर, क्योंकि हमारी लाइनमें कमसे कम रसद-पट्टी तो ठीक-ठीक थी, और वे कमबख्त खाने-पीनेसे भी लाचार थे—उनकी सप्लाई सर्विस ही नहीं थी! मैंने लाउडस्पीकर लगा दिये, और एकाएक पूरे ज़ोरसे जापानीमें ब्राडकास्ट शुरू हो गया।'

''मैंने पूछा, 'फिर? क्या असर हुआ?' वह बोला, 'पहले तो आवाज़ होते ही ज़ोरोंसे मशीनगनोंसे गोलियोंकी बौछार हुई। इसका इमकान ही था, हमने खाईसे दूर-दूर दो-तीन लाउडस्पीकर लगाये थे, कभी कोई बोलता था कभी कोई। फिर धीरे-धीरे बौछार कुछ मद्धिम पड़ी; मानो अनमनी-सी हो गयी—जैसे वे बीच-बीचमें सुन रहे हों। हमने और ज़ोरोंसे चिल्लाना शुरू किया—तुम हार गये; तुम्हारी मौत निश्चित है; गोलीसे नहीं तो भूख और बीमारीसे; जोंकोंसे ख़ून चुसवाना सिपाहीका काम नहीं है, हथियार डालकर इधर चले आओ! इधर तुम्हारी जान भी बचेगी, खाइयोंसे छुट्टी भी मिलेगी, अच्छा खाना मिलेगा—जो आत्म-समर्पण करेगा उसकी प्राण-रक्षाकी हम शपथ लेते हैं, वग़ैरह। इधर कम्पनी कमाण्डरोंको बता दिया गया था कि जो जापानी आत्म-समर्पण करने आये—निहत्थे या हाथ

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

उठाकर उन्हें आने दिया जाये, वन्दी करके आरामसे रखा जाये, और फिर उन्हींसे आगे ब्राडकास्ट कराया जाये।"

मेजर वर्धन साँस लेने रुके। फिर उन्होंने जैसे जागते हुए पूछा, "तुम लोगोंका क्या ख़याल है—अपीलका क्या असर हुआ ?"

वासुदेवन्‌ने कहा, "मेरी समझमें तो असर होना चाहिए था—पर आप तो बता चुके हैं कि वह नाकामयाब हुई थी।"

मेजर वर्धन फीकी हँसी हँसे। "हाँ, असर हुआ, ज़ोरोंका असर हुआ। नाकामयाब वह अपील नहीं—मेरी योजना हुई थी।"

तीनों प्रतीक्षामें चुप रहे। मेजर वर्धन फिर कहने लगे। "कर्नल मोज़ने—यही उस अमरीकीका नाम था—मुझे बताया, एक घण्टेके हुल्लड़के बाद राइफ़लें ऊपर उठाये दो सौ जापानी सहसा खाईमें-से निकल गये और आगे बढ़ने लगे। मुझे स्वप्नमें भी उम्मीद नहीं थी कि इतनी जल्दी इतना असर होगा—बादमें मालूम हुआ कि सामनेकी खाईमें कुल इतने ही आदमी थे···दो-तीन अफ़सरोंने आत्म-समर्पणका विरोध किया था पर उनको जापानियोंने मार डाला और बाक़ी पीछे भाग गये दूसरी खाईमें—जापानी जंगलकी ओटसे निकलकर सामने दीखने लगे।

"मैंने कहा, 'यह तो आश्चर्य-जनक सफलता रही !' वह बोला, 'हाँ··· या कि रहती।' और चुप हो गया। मैंने पूछा, 'क्या मतलब ?' तो थोड़ा रुककर बोला, 'जैसे ही उनकी मटमैली हरी वर्दी जंगलकी हरियालीसे अलग पहिचानी गयी, और मैंने ख़ुशीसे भरकर कहा कि देखो, वह आ रहे हैं, वैसे ही एक अनहोनी घटी। टामियोंकी पूरी क़तारने बिना हुक्मके बल्कि हुक्मके खिलाफ़, खट्‌से सब, मशीन-गनें उठाये और दनादन दाग दीं !'

"मैंने कहा, 'हैं ?' और कर्नलको ओर देखता रह गया। उसने स्थिर दृष्टिसे मेरी ओर देखते हुए कहा, 'हाँ। शिस्त लेनेकी बात ही नहीं थी, पूरी क़तार सामने थी, अभी मैं समझ भी नहीं सका था कि हुआ क्या कि सब जापानी चित हो गये—दो सौके दो सौ। बहुत-से तो एक साँस

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

भी न खींच पाये होंगे, कुछ एक-आध बार कराह सके, दो-एक सिर्फ़ ज़ख्मी हुए थे और बादमें अस्पतालमें मरे। पर उस वक्त सब साफ़ हो गया।'

"मैंने पूछा, 'मगर यह हुआ कैसे?' वह बोला 'अब कैसे क्या बताऊँ! ब्रिटिश आर्मीकी डिसिप्लिन बहुत अच्छी है; सबसे अच्छी। मगर स्थितिकी कल्पना करो : वैसेमें जापानीकी भावनापर भी गोली दाग देना एक आटो-मैटिक ऐक्शन था''''वह हुक्मअदूली है, यह किसीके ध्यानमें नहीं आया होगा। और विश्वासघात है, यह तो किसीको सूझा भी नहीं होगा!' वह थोड़ी देर चुप रहा। फिर बोला, 'लेकिन—इस तरह योजना फ़ेल कर गयी—दुबारा मौक़ा नहीं मिला। हमने फिर भी कोशिश की मगर विश्वास उठ गया था। हर अपीलपर और ज़ोरकी बौछार होती, हमारे लाउडस्पीकर भी उड़ा दिये गये। हमारी रिपोर्टपर कमाण्डसे हुक्म आया कि आइडिया ठप्प है, और इस प्रयोगका कहीं ज़िक्र न किया जाये।' मैं सुनकर चुप रह गया''''मेरे आइडियाका क्या हुआ था, मेरी समझमें आ गया।"

मेजर वर्धन चुप हो गये। तीनों साथी थोड़ी देर तक प्रतीक्षा करते रहे, फिर वासुदेवन्‌ने कहा, "मैं सोचता हूँ, उन जापानियोंके मनकी क्या हालत रही होगी उस वक़्त।"

अर्जुनने बात काटकर कहा, "उनको ही क्यों, टामियोंकी मानसिक अवस्था भी स्टडीके लायक़ रही होगी—उस वक़्त भी, और फ़ौरन बाद भी जब उन्हें मालूम हुआ होगा कि अपनी बेवकूफ़ीसे ही लड़ाई कुछ और लम्बी हो गयी—या कमसे कम उनकी मुसीबत—"

मेजर वर्धनने कहा, "हाँ। जापानियोंके मनकी हालतकी कल्पना कम मुश्किल है। टामियोंकी अधिक मुश्किल!"

सहसा चोपड़ाने कहा, "लेकिन मेजर, अगर कहानी इतनी ही है तो इसका हमारी बहससे क्या सम्बन्ध है?"

वर्धनने मानो बात न सुनी हो, अपनी ही बातके सिलसिलेमें वह कहते गये, "लेकिन कल्पना ज़्यादा मुश्किल इसलिए नहीं है, कि हम टामियोंके

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

मनकी हालत कम जानते हैं और जापानियोंकी अधिक। बल्कि इससे उल्टा। जहाँ ज्ञान कम होता है वहाँ कल्पना सहज होती है। टामियोंकी मनोदशाकी कल्पना इसलिए मुश्किल है कि हम उसे ठीक-ठीक जानते हैं—एक दम ठीक, अलजेब्राकी इक्वेशनकी तरह।"

चोपड़ाने आग्रह किया, "यह तो और पहेली है। लेकिन हमारी बहस—"

मेजर वर्धनने कहा, "ओ हाँ, हमारी बहस! हाँ, जो जापानी आये वे—पशु थे, सधे हुए पशु, यन्त्रकी अपील थी; सुननेवाला भी यन्त्र था—विवेक सोया या मरा या स्थगित जो कह लो था; भूख, नींद, सूखे कपड़ेकी आस, प्राणोंका आश्वासन....ये उस पशुको खींच लाये हैं। ठीक है न?"

"वैसी परिस्थितिमें आत्म-समर्पण अस्वाभाविक तो नहीं है—?"

"वही तो। वही तो। एक दम स्वाभाविक है। इसीलिए तो मैं कह रहा हूँ, पशुवत्, विवेकसे परे। लेकिन टामियोंका कर्म—वह-तो सधे हुए पशुका नहीं था? उसे क्या कहोगे?"

सब थोड़ी देर चुप रहे। फिर मेजर वर्धनने ही कहा, "स्वाभाविक वह भी था—इसलिए पशु-कर्म उसे भी कह सकते हैं। लेकिन अनुशासनसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं था, और प्राण-रक्षासे भी नहीं था कि प्राण-रक्षा वाला पशुतर्क वहाँ लगाया जा सके।"

"यान्त्रिक तो उस कर्मको कह सकते हैं—जैसे आँखके पास कुछ आनेसे आँख झपकती है हमारे बिना चाहे, वैसे ही यह भी अनैच्छिक—"

"हाँ—और आँखके झपकनेको आप डिसिप्लिनसे नहीं दबा सकते, हैं न? अगर इस तरह गोली दाग देनेको आप उस लेवलपर ले जा रहे हैं, तब तो मुझसे भी आगे जा रहे हैं....मुझे और कुछ कहना नहीं है। फ़ौजी जीवनमें आदमी विवेक छोड़कर अनुशासनके सहारे चलता है, और युद्धका दबाव उसे अनुशासनसे भी परे ले जाता है—उस स्थितिको मैं

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

क्या नाम दूँ ?''

थोड़ी देर चुप रहकर मेजर वर्धन उठ खड़े हुए। खड़े खड़े, बोले, ''उसके लिए नाम नहीं है। मेरा ख्याल है कि नाम जिस भाषामें होता वह भाषा हम लोग नहीं जानते।''

तीनोंने कौतूहलसे उनकी ओर देखा। वह फिर कहने लगे, ''हमारी भाषा—यह विवेकी भाषा—बस्ती-गाँवकी भाषा है। पशुकी भाषा उसका अर्थहीन चीखना-चिल्लाना है—उसमें अर्थ नहीं है पर अभिप्राय हो सकता है। उस अभिप्रायको समझनेके लिए हमें दो-चार-छह-आठ या चलो बीस हज़ार बरसकी संस्कृतिको भूलना यथेष्ट है। मगर जिस भाषामें जंगलमें पेड़-पेड़से बोलता है, पत्ती-पत्ती मर्मर कर उठती है—उस भाषाको क्या हम जानते हैं ? जान सकते हैं ? उसे समझनेके लिए हज़ारों बरसकी सांस्कृतिक परम्पराको नहीं, लाखों-करोड़ों बरसकी जैबिक परम्पराको भी भूलना ज़रूरी है। आदम-हौवाके युगमें नहीं, कच्छ, मछली और सूअरके अवतारोंके युगमें जाना ज़रूरी है—सूअरके दाँतपर जो धरती टँगी हुई थी—बल्कि उसमें भी नहीं, वह सूअर जिस कीचमें खड़ा था उसमें।''

मेजर वर्धनका स्वर आविष्ट था, उसकी गरमी तीनों साथियोंको छू रही थी। मगर अंगीठीकी आग ठण्डी पड़ गयी थी, मेजरका चेहरा अँधेरेमें था; और तीनों एक हलकी-सी सिहरनसे काँप गये।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

गेंग्रीन

दोपहरमें उस सूने आँगनमें पैर रखते ही मुझे ऐसा जान पड़ा, मानो उसपर किसी शापकी छाया मँड़रा रही हो, उसके वातावरणमें कुछ ऐसा अकथ्य, अस्पृश्य, किन्तु फिर भी बोझल और प्रकम्पमय और घना-सा फैल रहा था....

मेरी आहट सुनते ही मालती बाहर निकली। मुझे देखकर, पहचान कर उसकी मुरझायी हुई मुख-मुद्रा तनिकसे मीठे विस्मयसे जागी-सी और फिर पूर्ववत् हो गयी। उसने कहा, "आ जाओ।" और बिना उत्तरकी प्रतीक्षा किये भीतरको ओर चली। मैं भी उसके पीछे हो लिया।

भीतर पहुँचकर मैंने पूछा, "वे यहाँ नहीं हैं ?"

"अभी आये नहीं, दफ़्तरमें हैं। थोड़ी देरमें आ जायेंगे। कोई डेढ़-दो बजे आया करते हैं।"

"कबके गये हुए है ?"

"सवेरे उठते ही चले जाते हैं...."

मैं 'हूँ' कहकर पूछनेको हुआ, "और तुम इतनी देर क्या करती हो ?" पर फिर सोचा—आते ही एकाएक प्रश्न ठीक नहीं है। मैं कमरेके चारों ओर देखने लगा।

मालती एक पंखा उठा लायी, और मुझे हवा करने लगी। मैंने आपत्ति करते हुए कहा, "नहीं, मुझे नहीं चाहिए।" पर वह नहीं मानी, बोली, "वाह ! चाहिए कैसे नहीं ? इतनी धूपमें तो आये हो। यहाँ तो...."

मैंने कहा, "अच्छा, लाओ मुझे दे दो।"

वह शायद 'ना' करनेवाली थी, पर तभी दूसरे कमरेसे शिशुके रोनेकी आवाज़ सुनकर उसने चुपचाप पंखा मुझे दे दिया और घुटनोंपर हाथ

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

टेककर एक थकी हुई 'हुँह' करके उठी और भीतर चली गयी।

मैं उसके जाते हुए, दुबले शरीरको देखकर सोचता रहा—यह क्या है····यह कैसी छाया-सी इस घरपर छायी हुई है····

मालती मेरी दूरके रिश्तेकी बहन है, किन्तु उसे सखी कहना ही उचित है, क्योंकि हमारा परस्पर सम्बन्ध सख्यका ही रहा है। हम बचपनसे इकट्ठे खेले हैं, इकट्ठे लड़े और पिटे हैं, और हमारी पढ़ायी भी बहुत-सी इकट्ठे ही हुई थी, और हमारे व्यवहारमें सदा सख्यकी स्वेच्छा और स्वच्छन्दता रही है, वह कभी भ्रातृत्वके, या बड़े-छोटेपनके बन्धनोंमें नहीं घिरा····

मैं आज कोई चार वर्ष बाद उसे देखने आया हूँ। जब मैंने उसे इससे पूर्व देखा था, तब वह लड़की ही थी, अब वह विवाहिता है, एक बच्चेकी माँ भी है। इससे कोई परिवर्तन उसमें आया होगा और यदि आया होगा तो क्या, यह मैंने अभीतक सोचा नहीं था, किन्तु अब उसकी पीठकी ओर देखता हुआ मैं सोच रहा था, यह कैसी छाया इस घरपर छायी हुई है····और विशेषतया मालतीपर····

मालती बच्चेको लेकर लौट आयी और फिर मुझसे कुछ दूर नीचे बिछी हुई दरीपर बैठ गयी, मैंने अपनी कुरसी घुमाकर कुछ उसकी ओर उन्मुख होकर पूछा, "इसका नाम क्या है?"

मालतीने बच्चेकी ओर देखते हुए उत्तर दिया, "नाम तो कोई निश्चित नहीं किया, वैसे टिटी कहते हैं।"

मैंने उसे बुलाया, "टिटी, टिटी, आ जा," पर वह अपनी बड़ी-बड़ी आँखोंसे मेरी ओर देखता हुआ अपनी माँसे चिपट गया, और रुआँसा-सा होकर कहने लगा "उहुँ-उहुँ-उहुँ-ऊँ····"

मालतीने फिर उसकी ओर एक नज़र देखा, और फिर बाहर आँगन की ओर देखने लगी····

काफ़ी देर मौन रहा। थोड़ी देर तक तो वह मौन आकस्मिक ही था, जिसमें मैं प्रतीक्षामें था कि मालती कुछ पूछे, किन्तु उसके बाद एका-

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

एक मुझे ध्यान हुआ, मालतीने कोई बात ही नहीं की····यह भी नहीं पूछा कि मैं कैसा हूँ, कैसे आया हूँ····चुप बैठी है, क्या विवाहके दो वर्षमें ही वह बीते दिन भूल गयी ? या अब मुझे दूर—इस विशेष अन्तरपर—रखना चाहती है ? क्योंकि वह निर्बाध स्वच्छन्दता अब तो नहीं हो सकती····पर फिर भी, ऐसा मौन, जैसा अजनबीसे भी नहीं होना चाहिए····

मैंने कुछ खिन्न-सा होकर, दूसरी ओर देखते हुए कहा, "जान पड़ता है, तुम्हें मेरे आनेसे विशेष प्रसन्नता नहीं हुई—"

उसने एकाएक चौंककर कहा, "हूँ ?"

यह 'हूँ' प्रश्न-सूचक था, किन्तु इसलिए नहीं कि मालतीने मेरी बात सुनी नहीं थी; केवल विस्मयके कारण। इसलिए मैंने अपनी बात दुहरायी नहीं, चुप बैठ रहा। मालती कुछ बोली ही नहीं, तब थोड़ी देर बाद मैंने उसकी ओर देखा। वह एकटक मेरी ओर देख रही थी, किन्तु मेरे उधर उन्मुख होते ही उसने आँखें नीची कर लीं। फिर भी मैंने देखा, उन आँखोंमें कुछ विचित्र-सा भाव था, मानो मालतीके भीतर कहीं कुछ चेष्टा कर रहा हो, किसी बीती हुई बातको याद करनेकी, किसी बिखरे हुए वायुमण्डलको पुनः जगाकर गतिमान् करनेकी, किसी टूटे हुए व्यवहार-तन्तुको पुनरुज्जीवित करनेकी, और चेष्टामें सफल न हो रहा हो····वैसे जैसे बहुत देरसे प्रयोगमें न लाये हुए अङ्गको व्यक्ति एकाएक उठाने लगे और पाये कि वह उठता ही नहीं है, चिरविस्मृतिमें मानो मर गया है, उतने क्षीण बलसे (यद्यपि वह सारा प्राप्य बल है) उठ नहीं सकता····मुझे ऐसा जान पड़ा, मानो किसी जीवित प्राणीके गलेमें किसी मृत जन्तुका तौक डाल दिया गया हो, वह उसे उतारकर फेंकना चाहे, पर उतार न पाये····

तभी किसीने किवाड़ खटखटाये, मैंने मालतीकी ओर देखा; पर वह हिली नहीं। जब किवाड़ दूसरी बार खटखटाये गये, तब वह शिशुको अलग करके उठी और किवाड़ खोलने गयी।

वे, यानी मालतीके पति आये, मैंने उन्हें पहली बार देखा था, यद्यपि

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

फ़ोटोसे उन्हें पहचानता था। परिचय हुआ। मालती खाना तैयार करने आँगनमें चली गयी, और हम दोनों भीतर बैठकर बात-चीत करने लगे, उनकी नौकरीके बारेमें, उनके जीवनके बारेमें, उस स्थानके बारेमें, और ऐसे अन्य विषयोंके बारेमें जो पहले परिचयपर उठा करते हैं, एक तरह का स्वरक्षात्मक कवच बनकर····

मालतीके पतिका नाम है महेश्वर। वह एक पहाड़ी गाँवमें सरकारी डिस्पेन्सरीके डॉक्टर हैं, उसी हैसियतसे इन क्वार्टरोंमें रहते हैं। प्रातःकाल सात बजे डिस्पेन्सरी चले जाते हैं और डेढ़ या दो बजे लौटते हैं, उसके बाद दोपहर-भर छुट्टी रहती है, केवल शामको एक-दो घण्टे फिर चक्कर लगानेके लिए जाते हैं, डिस्पेन्सरीके साथके छोटे-से अस्पतालमें पड़े हुए रोगियोंको देखने और अन्य जरूरी हिदायतें करने····उनका जीवन भी बिलकुल एक निर्दिष्ट ढर्रेपर चलता है, नित्य वही काम, उसी प्रकारके मरीज़, वही हिदायतें, वही नुस्खे, वही दवाइयाँ वह स्वयं उकताये हुए हैं, और इसलिए और साथ ही इस भयङ्कर गरमीके कारण वह अपने फ़ुरसतके समयमें भी सुस्त ही रहते हैं····

मालती हम दोनोंके लिए खाना ले आयी। मैंने पूछा, "तुम नहीं खाओगी? या खा चुकी?"

महेश्वर बोले, कुछ हँसकर, "वह पीछे खाया करती हैं····"

पति ढाई बजे खाना खाने आते हैं, इसलिए पत्नी तीन बजे तक भूखी बैठी रहेगी!

महेश्वर खाना आरम्भ करते हुए मेरी ओर देखकर बोले, "आपको तो खानेका मज़ा क्या ही आयेगा ऐसे बेवक़्त खा रहे हैं?"

मैंने उत्तर दिया, "वाह! देरसे खानेपर तो और भी अच्छा लगता है, भूख बढ़ी हुई होती है, पर शायद मालती बहनको कष्ट होगा।"

मालती टोककर बोली, "उँहु, मेरे लिए तो यह नयी बात नहीं है···· रोज़ ही ऐसा होता है···"

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

मालती बच्चेको गोदमें लिये हुए थी। बच्चा रो रहा था, पर उसकी ओर कोई भी ध्यान नहीं दे रहा था।

मैंने कहा······"यह रोता क्यों है ?"

मालती बोली, "हो ही गया है चिड़चिड़-सा, हमेशा ही ऐसा रहता है।" फिर बच्चेको डाँटकर कहा, "चुप कर।" जिससे वह और भी रोने लगा, मालतीने भूमिपर बैठा दिया। और बोली····"अच्छा ले, रो ले।" और रोटी लेने आँगनकी ओर चली गयी !

जब हमने भोजन समाप्त किया तब तीन बजनेवाले थे, महेश्वरने बताया कि उन्हें आज जल्दी अस्पताल जाना है, वहाँ एक-दो चिन्ता-जनक केस आये हुए हैं, जिनका आपरेशन करना पड़ेगा····दोकी शायद टाँग काटनी पड़ें, गेंग्रीन हो गया है····थोड़ी ही देरमें वह चले गये। मालती किवाड़ बन्द कर आयी और मेरे पास बैठने ही लगी थी कि मैंने कहा, "अब खाना तो खा लो, मैं उतनी देर टिटीसे खेलता हूँ।"

वह बोली, "खा लूँगी, मेरे खानेकी कौन बात है" किन्तु चली गयी। मैं टिटोको हाथमें लेकर झुलाने लगा, जिससे वह कुछ देरके लिए शान्त हो गया।

दूर····शायद अस्पतालमें ही, तीन खड़के। एकाएक मैं चौका, मैंने सुना, मालती वहीं आँगनमें बैठी अपने-आप ही एक लम्बी-सी थकी हुई साँसके साथ कह रही है, "तीन बज गये····" मानो बड़ी तपस्याके बाद कोई कार्य सम्पन्न हो गया हो····

थोड़ी ही देरमें मालती फिर आ गयी, मैंने पूछा, "तुम्हारे लिए कुछ बचा भी था ? सब कुछ तो····"

"बहुत था।"

"हाँ, बहुत था, भाजी तो सारी मैं ही खा गया था, वहाँ बचा कुछ होगा नहीं, यों ही रौब तो न जमाओ कि बहुत था।" मैंने हँसकर कहा।

मालती मानो किसी और विषयकी बात कहती हुई बोली, "यहाँ

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

सब्ज़ी-वब्ज़ी तो कुछ होती ही नहीं, कोई आता-जाता है, तो नीचेसे मँगा लेते हैं, मुझे आये पन्द्रह दिन हुए हैं, जो सब्ज़ी साथ लाये थे वही अभी बरती जा रही है...."

मैंने पूछा, "नौकर कोई नहीं है ?"

"कोई ठीक मिला नहीं, शायद दो-एक दिनमें हो जाये ।"

"बरतन भी तो तुम्हीं माँजती हो ?"

"अरे कौन ?" कहकर मालती क्षण-भर आँगनमें जाकर लौट आयी ।

मैंने पूछा, "कहाँ गयी थीं ?"

"आज पानी ही नहीं है, बरतन कैसे मँजेंगे ?"

"क्यों पानीको क्या हुआ ?"

"रोज़ ही होता है....कभी वक़्तपर तो आता नहीं, आज शामको सात बजे आयेगा, तब बरतन मँजेंगे ।"

"चलो तुम्हें सात बजे तक तो छुट्टी हुई," कहते हुए मैं मन-ही-मन सोचने लगा, "अब इसे रातके ग्यारह बजे तक काम करना पड़ेगा, छुट्टी क्या ख़ाक हुई ?"

यही उसने कहा । मेरे पास कोई उत्तर नहीं था; पर मेरी सहायता टिटीने की, एकाएक फिर रोने लगा और मालतीके पास जानेकी चेष्टा करने लगा । मैंने उसे दे दिया ।

थोड़ी देर फिर मौन रहा, मैंने जेबसे अपनी नोटबुक निकाली और पिछले दिनोंके लिखे हुए नोट देखने लगा, तब मालतीको याद आया कि उसने मेरे आनेका कारण तो पूछा नहीं, और बोली, "यहाँ आये कैसे ?"

मैंने कहा ही तो, "अच्छा, अब याद आया ? तुमसे मिलने आया था, और क्या करने ?"

"तो दो-एक दिन रहोगे न ?"

"नहीं, कल चला जाऊँगा, ज़रूरी जाना है ।"

मालती कुछ नहीं बोली, कुछ खिन्न-सी हो गयी । मैं फिर नोटबुककी

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

तरफ़ देखने लगा ।

थोड़ी देर बाद मुझे भी ध्यान हुआ, मैं आया तो हूँ मालतीसे मिलने किन्तु यहाँ वह बात करनेको बैठी है और मैं पढ़ रहा हूँ, पर बात भी क्या की जाये ? मुझे ऐसा लग रहा था कि इस घरपर जो छाया घिरी हुई है, वह अज्ञात रहकर भी मानो मुझे भी वश कर रही है, मैं भी वैसा ही नीरस निर्जीव-सा हो रहा हूँ, जैसे—हाँ, जैसे यह घर, जैसे मालती···

मैंने पूछा, "तुम कुछ पढ़ती-लिखती नहीं ?" मैं चारों ओर देखने लगा कि कहीं किताबें दीख पड़ें ।

"यहाँ !" कहकर मालती थोड़ा-सा हँस दी । वह हँसी कह रही थी, "यहाँ पढ़नेको है क्या ?"

मैंने कहा, "अच्छा, मैं वापस जाकर ज़रूर कुछ पुस्तकें भेजूँगा···" और वार्तालाप फिर समाप्त हो गया····

थोड़ी देर बाद मालतीने फिर पूछा, "आये कैसे हो, लारीमें ?"

"पैदल ।"

"इतनी दूर ? बड़ी हिम्मत की ।"

"आख़िर तुमसे मिलने आया हूँ ।"

"ऐसे ही आये हो ?"

"नहीं, कुली पीछे आ रहा है, सामान लेकर । मैंने सोचा, बिस्तरा ले ही चलूँ ।"

"अच्छा किया, यहाँ तो बस···" कहकर मालती चुप रह गयी, फिर बोली, "तब तुम थके होगे, लेट जाओ ।"

"नहीं, बिलकुल नहीं थका ।"

"रहने भी दो, थके नहीं, भला थके हैं ?"

"और तुम क्या करोगी ?"

"मैं बरतन माँज रखती हूँ, पानी आयेगा तो धुल जायेगा ।"

मैंने कहा, "वाह !" क्योंकि और कोई बात मुझे सूझी नहीं···

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

थोड़ी देरमें मालती उठी और चली गयी, टिटीको साथ लेकर। तब मैं भी लेट गया और छतकी ओर देखने लगा....मेरे विचारोंके साथ आँगन से आती हुई बरतनोंके घिसनेकी खन-खन ध्वनि मिलकर एक विचित्र एक-स्वर उत्पन्न करने लगी, जिसके कारण मेरे अंग धीरे-धीरे ढीले पड़ने लगे, मैं ऊँघने लगा....

एकाएक वह एकस्वर टूट गया—मौन हो गया। इससे मेरी तन्द्रा भी टूटी, मैं उस मौनमें सुनने लगा....

चार खड़क रहे थे और इसीका पहला घण्टा सुनकर मालती रुक गयी थी....

वही तीन बजेवाली बात मैंने फिर देखी, अबकी बार और उग्र रूपमें। मैंने सुना, मालती एक बिलकुल अनैच्छिक, अनुभूतिहीन, नीरस यन्त्रवत्—वह भी थके हुए यन्त्रकी भाँति स्वरमें कह रही है, "चार बज गये"...मानो इस अनैच्छिक समय गिनने-गिननेमें ही उसका मशीन-तुल्य जीवन बीतता हो, वैसे ही, जैसे मोटरका स्पीडोमीटर यन्त्रवत् फ़ासला नापता जाता है, और यन्त्रवत् विश्रान्त स्वरमें कहता है (किससे !) कि मैंने अपने अमित शून्यपथका इतना अंश तय कर लिया....न जाने कब, कैसे मुझे नींद आ गयी....

तब छह कभीके बज चुके थे, जब किसीके आनेकी आहटसे मेरी नींद खुली, और मैंने देखा कि महेश्वर लौट आये हैं, और उनके साथ ही बिस्तर लिये हुए मेरा कुली। मैं मुँह धोनेको पानी माँगनेको ही था कि मुझे याद आया, पानी नहीं होगा। मैंने हाँथोंसे मुँह पोंछते-पोंछते महेश्वर से पूछा, "आपने बड़ी देर की ?"

उन्होंने किञ्चित् ग्लानि-भरे स्वरमें कहा, "हाँ, आज वह गैंग्रीनका आपरेशन करना ही पड़ा, एक कर आया हूँ, दूसरेको एम्बुलेन्समें बड़े अस्पताल भिजवा दिया है।"

मैंने पूछा, "गैंग्रीन कैसे हो गया ?"

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

"एक काँटा चुभा था, उसीसे हो गया, बड़े लापरवाह लोग होते हैं यहाँके····

मैंने पूछा, "यहाँ आपको केस अच्छे मिल जाते हैं ? आयके लिहाजसे नहीं, डाक्टरीके अभ्यासके लिए ?"

बोले, "हाँ, मिल ही जाते हैं, यही गेंग्रीन, हर दूसरे-चौथे दिन एक केस आ जाता है, नीचे बड़े अस्पतालोंमें भी····"

मालती आँगनसे ही सुन रही थी, अब आ गयी, बोली, "हाँ, केस बनाते देर क्या लगती है ? काँटा चुभा था, इसपर टाँग काटनी पड़े, यह भी कोई डॉक्टरी है ? हर दूसरे दिन किसीकी टाँग, किसीकी बाँह काट आते हैं, इसीका नाम है अच्छा अभ्यास !"

महेश्वर हँसे, बोले, "न काटें तो उसकी जान गँवायें ?"

"हाँ, पहले तो दुनियामें काँटे ही नहीं होते होंगे ? आजतक तो सुना नहीं था कि काँटोंके चुभनेसे मर जाते हों····"

महेश्वरने उत्तर नहीं दिया, मुसकरा दिये, मालती मेरी ओर देखकर बोली, "ऐसे ही होते हैं डॉक्टर, सरकारी अस्पताल है न, क्या परवाह है। मैं तो रोज़ ही ऐसी बातें सुनती हूँ। अब कोई मर-मुर जाये तो ख़याल ही नहीं होता। पहले तो रात-रात-भर नींद नहीं आया करती थी।"

तभी आँगनमें खुले हुए नलने कहा····टिप, टिप, टिप, टिप-टिप-टिप····

मालतीने कहा, "पानी" और उठकर चली गयी। खनखनाहटसे हमने जाना, बरतन धोये जाने लगे हैं····

टिटी महेश्वरकी टाँगोंके सहारे खड़ा मेरी ओर देख रहा था, अब एकाएक उन्हें छोड़कर मालतीकी ओर खिसकता हुआ चला। महेश्वरने कहा, "उधर मत जा !" और उसे गोदमें उठा लिया, वह मचलने और चिल्ला-चिल्ला कर रोने लगा।

महेश्वर बोले····"अब रो-रोकर सो जायेगा, तभी घरमें चैन होगी।"

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

मैंने पूछा, "आप लोग भीतर ही सोते हैं? गरमी तो बहुत होती है ?"

"होनेको तो मच्छर भी बहुत होते हैं, पर यह लोहेके पलंग उठाकर बाहर कौन ले जाये ? अबके नीचे जायेंगे तो चारपाइयाँ ले आयेंगे।" फिर कुछ रुककर बोले, "आज तो बाहर ही सोयेंगे। आपके आनेका इतना लाभ ही होगा।"

टिटी अभी तक रोता ही जा रहा था। महेश्वरने उसे एक पलंगपर बिठा दिया, और पलंग बाहर खींचने लगे, मैंने कहा, "मैं मदद करता हूँ," और दूसरी ओरसे पलंग उठाकर निकलवा दिये।

अब हम तीनों····महेश्वर, टिटी और मैं, दो पलंगोंपर बैठ गये और वार्तालापके लिए उपयुक्त विषय न पाकर उस कमीको छुपानेके लिए टिटीसे खेलने लगे, बाहर आकर वह कुछ चुप हो गया था, किन्तु बीच-बीचमें जैसे एकाएक कोई भूला हुआ कर्तव्य याद करके रो उठता था, और फिर एकदम चुप हो जाता था····और कभी-कभी हम हँस पड़ते थे, या महेश्वर उसके बारेमें कुछ बात कह देते थे····

मालती बरतन धो चुकी थी। जब वह उन्हें लेकर आँगनके एक ओर रसोईके छप्परकी ओर चली, तब महेश्वरने कहा, "थोड़ेसे आम लाया हूँ, वह भी धो लेना।"

"कहाँ हैं ?"

"अँगीठीपर रखे हैं, काग़ज़में लिपटे हुए।"

मालतीने भीतर जाकर आम उठाये और अपने आँचलमें डाल लिये। जिस काग़ज़में वे लिपटे हुए थे वह किसी पुराने अखबारका टुकड़ा था। मालती चलती-चलती सन्ध्याके उस क्षीण प्रकाशमें उसीको पढ़ती जा रही थी····वह नलके पास जाकर खड़ी उसे पढ़ती रही, जब दोनों ओर पढ़ चुकी, तब एक लम्बी साँस लेकर उसे फेंककर आम धोने लगी।

मुझे एकाएक याद आया····बहुत दिनोंकी बात थी····जब हम अभी स्कूलमें भरती हुए ही थे। जब हमारा सबसे बड़ा सुख, सबसे बड़ी विजय

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

थी हाज़िरी हो चुकनेके बाद चोरीसे क्लाससे निकल भागना और स्कूलसे कुछ दूरीपर आमके बग़ीचेमें पेड़ोंपर चढ़कर कच्ची आमियाँ तोड़-तोड़ खाना। मुझे याद आया····कभी जब मैं भाग आता और मालती नहीं आ पाती थी तब मैं भी खिन्न-मन लौट आया करता था····

मालती कुछ नहीं पढ़ती थी, उसके माता-पिता तंग थे, एक दिन उसके पिताने उसे एक पुस्तक लाकर दी और कहा कि इसके बीस पेज रोज़ पढ़ा करो, हफ़्ते-भर बाद मैं देखूँ कि इसे समाप्त कर चुकी हो, नहीं तो मार-मारकर चमड़ी उधेड़ दूँगा। मालतीने चुपचाप किताब ले ली, पर क्या उसने पढ़ी ? वह नित्य ही उसके दस पन्ने, बीस पेज, फाड़कर फेंक देती, अपने खेलमें किसी भाँति फ़र्क़ न पड़ने देती। जब आठवें दिन उसके पिताने पूछा, "किताब समाप्त कर ली ?" तो उत्तर दिया···"हाँ, कर ली," पिताने कहा, "लाओ, मैं प्रश्न पूछूँगा" तो चुप खड़ी रही। पिताने फिर कहा, तो उद्धत स्वरमें बोली, "किताब मैंने फाड़कर फेंक दी है, मैं नहीं पढ़ूँगी।"

उसके बाद वह बहुत पिटी, पर वह अलग बात है····इस समय मैं यही सोच रहा था कि वही उद्धत और चंचल मालती आज कितनी सीधी हो गयी है, कितनी शान्त, और एक अख़बारके टुकड़ेको तरसती है····यह क्या, यह····

तभी महेश्वरने पूछा, "रोटी कब बनेगी ?"

"बस अभी बनाती हूँ।"

पर अबकी बार जब मालती रसोईकी ओर चली, तब टिटीकी कर्तव्य-भावना बहुत विस्तीर्ण हो गयी, वह मालतीकी ओर हाथ बढ़ाकर रोने लगा और नहीं माना, मालती उसे भी गोदमें लेकर चली गयी, रसोईमें बैठकर एक हाथसे उसे थपकने और दूसरेसे कई एक छोटे-छोटे डिब्बे उठा कर अपने सामने रखने लगी····

और हम दोनों चुपचाप रात्रिको, और भोजनकी, और एक दूसरेके

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

कुछ कहनेकी, और न जाने किस-किस न्यूनताकी पूर्तिकी प्रतीक्षा करने लगे।

हम भोजन कर चुके थे और बिस्तरोंपर लेट गये थे और टिटी सो गया था। मालती पलंगके एक ओर मोमजामा बिछाकर उसे उस पर लिटा गयी थी। वह सो गया था, पर नींदमें कभी-कभी चौंक उठता था। एक बार तो उठकर बैठ भी गया था, पर तुरन्त ही लेट गया।

मैंने महेश्वरसे पूछा……"आप तो थके होंगे, सो जाइए।"

वे बोले, "थके तो आप अधिक होंगे…अठारह मील पैदल चलकर आये हैं।" किन्तु उनके स्वरने मानो जोड़ दिया……"थका तो मैं भी हूँ।"

मैं चुप रहा, थोड़ी देरमें किसी अपर संज्ञाने मुझे बताया, वे ऊँघ रहे हैं।

तब लगभग साढ़े दस बजे थे, मालती भोजन कर रही थी।

मैं थोड़ी देर मालतीकी ओर देखता रहा, वह किसी विचारमें—यद्यपि बहुत गहरे विचारमें नहीं: लीन हुई धीरे-धीरे खाना खा रही थी, फिर मैं इधर-उधर खिसककर, पर आरामसे होकर, आकाशकी ओर देखने लगा।

पूर्णिमा थी, आकाश अनभ्र था।

मैंने देखा……उस सरकारी क्वार्टरकी दिनमें अत्यन्त शुष्क और नीरस लगने वाली स्लेटकी छत भी चाँदनीमें चमक रही है, अत्यन्त शीतलता और स्निग्धतासे छलक रही है, मानो चन्द्रिका उनपरसे बहती हुई आ रही हो, झर रही हो……

मैंने देखा, पवनमें चीड़के वृक्ष……गरमीसे सूखकर मटमैले हुए चीड़के वृक्ष……धीरे-धीरे गा रहे हों…कोई राग जो कोमल है, किन्तु करुण नहीं, अशान्तिमय है, किन्तु उद्वेगमय नहीं……

मैंने देखा, प्रकाशसे धुँधले नीले आकाशके पटपर जो चमगादड़ नीरव उड़ानसे चक्कर काट रहे हैं, वे भी सुन्दर दीखते हैं……

मैंने देखा…दिन-भरकी तपन, अशान्ति, थकान, दाह, पहाड़ोंमें-से भापसे उठकर वातावरणमें खोये जा रहे हैं, जिसे ग्रहण करनेके लिए पर्वत-

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

शिशुओंने अपनी चौड़ वृक्षरूपी भुजाएँ आकाशकी ओर बढ़ा रखी हैं····

पर यह सब मैंने ही देखा, अकेले मैंने····महेश्वर ऊँघ रहे थे और मालती उस समय भोजनसे निवृत्त होकर दही जमानेके लिए मिट्टीका बरतन गरम पानीसे धो रही थी, और कह रही थी·····"अभी छुट्टी हुई जाती है" और मेरे कहनेपर ही कि "ग्यारह बजनेवाले हैं," धीरेसे सिर हिलाकर जता रही थी कि रोज़ ही इतने बज जाते हैं···मालतीने वह सब कुछ नहीं देखा, मालतीका जीवन अपनी रोज़को नियत गतिसे बहा जा रहा था और एक चन्द्रमाकी चन्द्रिकाके लिए, एक संसारके सौन्दर्यके लिए, रुकनेको तैयार नहीं था····

चाँदनीमें शिशु कैसा लगता है, इस अलस जिज्ञासासे मैंने टिटीकी ओर देखा और वह एकाएक मानो किसी शैशवोचित वामतासे उठा और खिसककर पलंगसे नीचे गिर पड़ा और चिल्ला-चिल्लाकर रोने लगा। महेश्वरने चौंककर कहा·····"क्या हुआ ?" मैं झपटकर उसे उठाने दौड़ा, मालती रसोईसे बाहर निकल आयी, मैंने उस 'खट्' शब्दको याद करके धीरेसे करुणा-भरे स्वरमें कहा, "चोट बहुत लग गयी बेचारेके।"

यह सब मानो एक ही क्षणमें, एक ही क्रियाकी गतिमें हो गया।

मालतीने रोते हुए शिशुको मुझसे लेनेके लिए हाथ बढ़ाते हुए कहा, "इसके चोटें लगती ही रहती हैं, रोज़ ही गिर पड़ता है।"

एक छोटे क्षण-भरके लिए मैं स्तब्ध हो गया, फिर एकाएक मेरे मनने, मेरे समूचे अस्तित्वने, विद्रोहके स्वरमें कहा···कहा मेरे मनने भीतर ही, बाहर एक शब्द भी नहीं निकला·····"माँ, युवती माँ, यह तुम्हारे हृदयको क्या हो गया है, जो तुम अपने एकमात्र बच्चेके गिरनेपर ऐसी बात कह सकती हो····और यह अभी, जब तुम्हारा सारा जीवन तुम्हारे आगे है !

और, तब एकाएक मैंने जाना कि वह भावना मिथ्या नहीं है, मैंने देखा कि सचमुच उस कुटुम्बमें कोई गहरी भयङ्कर छाया घर कर गयी है, उनके जीवनके इस पहले ही यौवनमें घुनकी तरह लग गयी है, उसका इतना

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

अभिन्न अंग हो गयी है कि वे उसे पहचानते ही नहीं, उसीकी परिधिमें घिरे हुए चले जा रहे हैं। इतना ही नहीं, मैंने उस छायाको देख भी लिया....

इतनी देरमें, पूर्ववत् शान्ति हो गयी थी। महेश्वर फिर लेटकर ऊँघ रहे थे। टिटी मालतीके लेटे हुए शरीरसे चिपटकर चुप हो गया था, यद्यपि कभी एक-आध सिसकी उसके छोटेसे शरीरको हिला देती थी। मैं भी अनुभव करने लगा था कि बिस्तर अच्छा-सा लग रहा है। मालती चुपचाप ऊपर आकाशमें देख रही थी, किन्तु क्या चन्द्रिकाको या तारोंको ?

तभी ग्यारहका घण्टा बजा, मैंने अपनी भारी हो रही पलकें उठाकर अकस्मात् किसी अस्पष्ट प्रतीक्षासे मालतीकी ओर देखा। ग्यारहके पहले घण्टेकी खड़कनके साथ ही मालतीकी छाती एकाएक फफोलेकी भाँति उठी और धीरे-धीरे बैठने लगी, और घण्टा-ध्वनिके कम्पनके साथ ही मूक हो जानेवाली आवाज़में उसने कहा, "ग्यारह बज गये...."

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

नीली हँसी

देवकान्तने एक बार फिर नीचे बहते हुए और ऊपरसे बरसते हुए पानीकी मिलनरेखा पहचाननेकी कोशिश की। पर नीचेका मटमैला धुँधला आलोक, कब कहाँ ऊपरसे भूरे धुँधले आलोकमें परिवर्तित हो जाता था, यह पहचान पाना असम्भव था। पानी-पानी-पानी····केवल पैरोंके बिलकुल निकट, जहाँ ब्रह्मपुत्रके बौराये हुए पानीने अभी थोड़ी देर पहले किनारेके एक बड़े टुकड़ेका निवाला बना लिया था, वह देख सकता था कि पानी की बौराहट मानो अन्तर्मुख होकर अपने ही को निगले जा रही थी—पानीके चक्रावर्त घूमते हुए अपनेको ही नीचे पातालकी ओर खींचते हुए बहते चले जाते थे····आवर्त्तके छोरको जो कुछ भी छूता—जलकुम्भीके बहते हुए पौधे, गली हुई टहनियाँ, पुराने छप्परके काले पड़े हुए बाँस, बाढ़की नदीमें बहकर आनेवाला नानाविध नामहीन कचरा—सब उसे छूते ही मानो आविष्ट हो जाता और बगूलेके बीचों-बीच जाकर पातालकी ओर कूद पड़ता····दृष्टि भी तो उसे छूते ही मानो नीचेकी ओरको चूस ली जाती है, तो और चीज़ोंका क्या कहना····

थोड़ी देर स्थिर दृष्टिसे बगूलेको देखते रहनेपर देवकान्तके शरीरमें एक सिहरन-सी दौड़ गयी—उसकी देह कण्टकित हो आयी। उसने फिर बलात् आँखें उठाकर उस ओर देखा जहाँ क्षितिज होना चाहिए। ठाकुरकी एक पंक्ति उसकी स्मृतिमें उभर कर डूब गयी : "रात्रि एशे जेथाय मेशे दिनेर पारावारे"—दिन और रात्रि तो इस निर्विशेष प्रकाशमें पहचाने नहीं जाते, पर पारावारमें मिस जानेका प्रत्यक्ष दृश्य इससे बढ़कर क्या हो सकता है····

लेकिन मिस जानेकी बात ऐसे सोचनेसे काम नहीं चलेगा। नदी और

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

सागर, दिन और रात, आकाश और धरातल, पानी और किनारा—ये उसे अलग-अलग पहचानने होंगे—इन्हें पृथक् करके ही वह उस काममें सफलताकी आशा कर सकता है जिसे उसे उठाना ही है, असफलताका जोखिम उठाकर भी हाथ लगाना ही है—यद्यपि असफल उसे नहीं होना है—असफलताकी गुंजाइश छोड़ सकने लायक़ गुंजाइश उसकी सहनशक्तिमें नहीं है····

वह वह—क्या वह क्षितिज-रेखा है—जल-रेखा है ? क्या यह उसका भ्रम है कि ठीक वहाँपर एक पतली-सी श्यामल रेखा भी वह देख सका है—द्वीपकी तरु-पंक्तिकी रेखा ? नहीं भ्रमकी भी गुंजाइश नहीं है, आँखोंको, हाथोंको, जीको, किसीको भी चूकनेकी गुंजाइश नहीं है····

देवकान्तने एक लम्बी साँस लेकर नावके एक सिरेसे दूसरे तक नज़र डाली, फिर उसकी रस्सी हाथमें लिये-लिये उसके किनारेपर चढ़े हुए हिस्सेको ठेलते हुए कूदकर उसपर सवार हो लिया। नाव थोड़ा-सा काँपी-डगमगायी। फिर धारमें पड़ते ही तीरकी तरह एक ओर बढ़ चली····देवकान्तने एक बार फिर पार करके क्षितिजकी ओर देखा, और स्थिर भावसे डाँड़ चलाने लगा। तनिक-सी देरमें ही वह भी किनारेसे दूर होकर इतना छोटा-सा दीखने लगा मानो वह भी जलकुम्भीका बहता हुआ एक पौधा हो—वह नहीं, समूची नाव एक छोटा-सा उन्मूलित पौधा हो, और वह उसका ऊब-डूब करता हुआ-सा नीला फूल, कोमल क्षणजीवी फूल, किन्तु जो जबतक है सुन्दर है। मानो एक स्वतः सम्पूर्ण दुनिया है····

कहींसे हवा उठी। उससे पानीके ऊपरकी धुन्ध मिटने लगी, वर्षा भी थम गयी, पानी स्पष्ट दीखने लगा—स्पष्ट किन्तु सम नहीं, बगूलोंका स्थान उत्ताल तरंगोंने ले लिया था—पर ये छोटी-छोटी तरल पहाड़ियाँ न भी होतीं तो भी देवकान्त और उसकी नाव कबके ओझल हो चुके थे····

देश और कालका फैलाव वहीं सबसे अधिक होता है जहाँ उनका

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

महत्त्व सबसे कम होता है—जब-जब जीवनमें तनाव आता है और सारी प्राण-शक्ति एक केन्द्र या बिन्दुमें संचित होने लगती है तब-तब देश-काल भी उसी अनुपातमें सिमट आते हैं····देवकान्त नाव खे रहा है, उसके सामने, आगे-पीछे, कहीं उस क्षणके सिवा कुछ नहीं है जिसमें वह है और नाव खे रहा और मोहनकी बड़ी-बड़ी काली आँखोंकी ओर जा रहा है—मोहन जो एक हिरनका छौना है जिसे नीलिमाने उसे दिया था—किन्तु फिर भी उस क्षणमें ही कई देश-काल संचित हो आये हैं—वह एक साथ ही कई स्थानों, कई कालोंमें जी रहा है, कई घटनाओंका घटक है····

द्वीपके आर-पार पत्थरोंके ढेर लगाकर पटरी बनायी गयी है; जिसपर-से सड़कके पास ही नीची भूमिपर बाँसकी एक बाड़ है, जिसके भीतर कदलीकी घनी बाड़ है। देवकान्त बाहर बैठा बाँसुरी बजा रहा है। कदलीके पत्तोंके बीचमें-से उसे कभी-कभी एक सफ़ेद आँचलकी झलक मिल जाती है—नीलिमा भीतर फूल बीन रही है····वह वहीं रहती है, वहीं और लड़कियों के साथ पढ़ती है, वहींसे कभी उसका बारह वसन्तोंके कूजनसे भरा हुआ स्वर नाम-कीर्तन करता हुआ सुनायी दे जाया करता है, वहीं····

बाढ़ आती है तो द्वीपमें पानी भर जाता है, उतरती है तो जगह-जगह खाल, बोल, दिग्घी, ताल बनाकर छोड़ जाती है। निर्धन लोग बचनेके लिए पेड़ोंपर मचान बनाते हैं, सम्पन्न दो-एक व्यक्तियोंने बजरे रख छोड़े हैं, पानी उतर जानेपर किसी खाल-पोखरमें खड़े रहते हैं। साधारण बाढ़में यही जीवन-रक्षाके लिए यथेष्ट होते हैं—अधिक बाढ़में उनका भी ठिकाना नहीं—पर ऐसी कौन-सी स्थिति है जिसमें किसी प्रकार भी कोई ख़तरा न हो····ऐसे ही एक बजरेकी ओटमें पोखरके किनारे उसका घर है। उसका पिता कुशल महावत है और हाथीको साधनेमें उसकी बराबरी सारे असम में बिरला ही कर सकता है। और देवकान्त स्वयं एक मटकी दहीकी लेकर बजरेके नीचेसे गुज़रता है—वह नावमें बैठा भी अपनेको मटकी लिये जाता देख रहा है····

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

दो वर्ष बराबर बाढ़ आयी थी, द्वीप प्रायः नाम शेष हो गया था। और अब वहाँ न जलानेको तेल था, न खानेको नमक—दोनों ही 'चालानी' आते थे····देवकान्त कदलीके तने जलाकर उनकी राख मसल रहा है—इसीका खार उन्हें दुर्दिनमें नमकका काम देता है····खार वह हँड़ियामें भर लेगा—न जाने कितने दिन चलेगी वह। भोजनका धूमिल रंग मानो उसकी दृष्टिके आगेसे दौड़ गया, और उसके कटु स्वादसे उसका मुँह कड़ुवा हो आया—वह थूककर मुँह साफ़ कर लेता पर उसे ध्यान आया कि कदलीकी अवज्ञा अनुचित है—जिसकी जड़ें, हाड़, छाल, फूल, फल सभी उपयोगी हैं और उनके भोजन-छाजनका सहारा है····

"देबू, यह लो !"

देवकान्त चौंककर देखता है। नीलिमाके वस्त्र उजले हैं, नेत्र काले, केश भीगे, और वह डोरसे झूलती एक छोटी-सी मुँह-बँधी हँड़िया उसकी ओर बढ़ा रही है।

"यह क्या है, नीली ?"

"नमक। हमारे पास एक हाँड़ी और है। बिहू तक चल जायेगा।"

"लेकिन खार तो अच्छी होती है—हमने इतनी बना ली—"

"लो—बहस मत करो !" आज्ञापना।

"अच्छा, लाओ।" कुछ विनोदका भाव; "नीली, तो आजसे हम तुम्हारा नमक खायेंगे—"

"धत् !"

ढोलकोंका स्वर। खोल, मादल, झाँझ, वेणु, घण्टी। बीच-बीचमें ऊँचा उठता समवेत गायनका स्वर।

देवकान्त दौड़ रहा है। विषुवोत्सवका आमोद-प्रमोद, और वह अभी पहुँचा नहीं—पिताने उसे काममें रोक लिया था····

लड़कियोंकी खिलखिलाहट। पुआलकी और पुआलके धुएँकी गन्ध;

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

बूढ़ोंके खाँसनेमें भी जैसे प्रसन्नताकी मींड। गुड़ और खीलोंका कसैला मीठा स्वाद। एकाएक पुआलकी आगकी एक भभकती लपट, उसके लाल प्रकाशमें नीलिमाका दमकता चेहरा—उन आँखोंमें देवकान्तके शायद वैसे ही दमकते चेहरेकी सहसा उभरती पहचान—क्या पुआलकी आगमें उसकी शतांश भी दीप्ति है जो क्षण-भर नीलिमाकी आँखोंमें दमक उठती है।

झाँझ, मंजीरा, वेणु, खोल, मादल....

कुछ नहीं बचा है, केवल द्वीपके आर-पारकी वह ऊँची पटरी और पेड़ोंके ऊपरी हिस्से—उनपर मचान, पटरीके निकट तीन-चार बजरे.... और पटरीपर अनगिनती ढोर-डांगर, कुछ कुत्ते, कहीं-कहीं दुबकते लोमड़ी-सियार, जगह-जगह अधमरे रेंगते साँप, तीन-चार हाथी....और कभी-कभी दूरके एक टीलेकी हाथी-डूब घासमें-से आती हुई बाघकी चिंग्घाड़। और कुछ नहीं बचा है, लेकिन यही तो सब कुछ है, इससे कमपर भी बार-बार उनका जीवन फिर भरा-पूरा हुआ है, बाढ़ उतरेगी तो फिर मादल गूँजेंगे और मृदंग गमक लेंगे और ऋतु:स्नाताकी भाँति कान्तिमान् द्वीप-भूमि मेमनोंकी मिमियाती हँसीसे मुखरित हो उठेगी....

अब भी बजरेकी ओटमें देवकान्त है। पटरीके पार मचानके पास नीलिमा आती है—उसकी गोदमें एक मृगका बच्चा है। कितना सुन्दर! देवकान्त ललककर कहता है, "यह कहाँ पाया ?"

पर नीलिमाके स्वरमें अप्रत्याशित गम्भीरता है। "इसे रखोगे ?"

"क्यों—क्या बात है ?"

"मचानमें नहीं रह सकता। तुम अपने साथ पटरीपर रखो, या बजरेपर—वहाँ बच जायेगा।"

"पर पाया कहाँ ?"

"पिता लाये थे। भटका हुआ मिला था। मैंने मोहन नाम रखा है।"

"सचमुच मोहन है। इतना प्यारा है! मैं ज़रूर पाल लूँगा—बचा

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

लूँगा । फिर शरारतसे, "पर फिर मैं लौटाऊँगा नहीं—मेरा हो जायेगा!"

"मैंने कुछ भी जो तुम्हें दिया है कभी वापस माँगा है ?" स्वर शान्त है, लेकिन उसमें दबी हुई, एक कँपकँपी है जिससे देवकान्त चौंक-सा जाता है, "आगे भी जो दूँगी, वापस नहीं माँगूँगी ।"

"नीलिमा—नीली ?"

"तुम बचाकर रख सको सही ।"

नहीं, भूल नहीं हो सकती, इस बातका मोहनसे कोई सम्बन्ध नहीं है····देवकान्त अवाक् उसे देखता है, उसके भीतर कहीं कुछ गा उठता है—ब्रह्मपुत्रकी बहावकी तरह मन्द्र गम्भीर, मोहनकी आँखोंकी तरह गहरा, गहरा, गहरा····

"नीली, यह देखो-देखो क्या लाया ।"

केवड़ेका फूल है, गमछेमें लिपटा हुआ । देवकान्त खोलकर उसे दे देता है ।

"गन्ध तो कभी-कभी आती थी । कहाँपर था ? पटरीपर तो मैंने सब देखा था ।"

"हाँ, देखा ?" देवकान्तके स्वरमें विजयका गर्व है । पटरीपर नहीं था—ऐसी चीजें ज़रा मेहनतसे मिलती हैं ।" उस झोपके अन्दर— "कहते-कहते उसने टीलेकी ओर इशारा किया ।

"झोप—क्या कहा ?" नीलीका स्वर सहसा चीत्कार-सा बन गया; उस टीलेकी ओरसे ही तो बाघकी दहाड़ सुनायी दी थी ! "हटो, मुझे नहीं चाहिए तुम्हारी केतकी—"

नीलीने फूल उसके हाथपर पटक दिया, काँटेसे उसका हाथ छिल गया पर उससे बोला ही नहीं गया ।

"हज़ार बार कहा है देबू, मुझे फूल नहीं चाहिए, मुझे तुम्हारी—" सहसा रुककर उसने ओंठ काट लिया, उसका चेहरा लाल हो आया,

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

"अच्छा लाओ, दो—" कहकर उसने फूल झपट लिया और आँचलसे उसे ढकती हुई भाग गयी।

डिब्रूगढ़का स्कूल। देवकान्तने पढ़ाई पूरी कर ली है, और अभी स्कूलमें मास्टरी शुरू की है। इतने छोटे मास्टरसे उसने स्वयं कभी नहीं पढ़ा, पर प्रगति तो इसीका नाम है कि कल जो छत्तीस बरसके बुज़ुर्ग करते थे आज अठारह बरसके जवान करें....

नीलीकी चिट्ठी। वे लोग द्वीप छोड़कर जानेवाले हैं। बाढ़ आ रही है, और सुना है कि इस साल सब डूब जायेगा...मोहनकी उसे चिन्ता है—अगर सचमुच उतनी बाढ़ आयी तो पटरीपर जमा असंख्य जानवरोंमें उसकी कौन चिन्ता करेगा? वह सोच रही है कि उसके लिए पटरीपर ही एक छोटी-सी झोंपड़ी बना जाये, पर...क्यों नहीं वह आकर उसे ले जाता? जल्दी आये तो नीली भी उसे देख लेगी—लेकिन अब बड़ा आदमी होकर क्या वह नीलीको पहचानेगा भी? नहीं तो मोहनको तो वह ले जा ही सकेगा—स्कूलके मास्टर साहब तो लड़कोंसे ढोर चरवा लेते हैं, क्या वह मोहनकी देख-भाल नहीं करा सकेगा?

देवकान्त चिट्ठीपर मोहर देखता है, तारीख पढ़ता है, मानो उँगलियों पर कुछ गिननेको होता है—और फिर हाथ ढीला छोड़ देता है...

झाँझ, मंजीरा, खोल, मादल....पानीका घर्र-घर्र, सर-सर-सर-सर, छप्प-छप्प-छाऽप-छप्प, डाँड़ोंका खट्ट-हुट्, देवकान्तकी अपनी साँसोंका स्वर जो कानोंके पाससे सरसराते पवनके स्वरमें डूबता नहीं क्योंकि अपनी साँस भीतरसे सुनी जाती है, बाहरी कानसे नहीं, और डाँड़ोंकी विलम्बित लयपर अधीर उसके हृदयका द्रुत धक्क-धुकु, धक्क-धुकु....और स्वरोंकी इस छोटी सी गठरीके आस-पास चारों ओर मटमैला ललौहाँ पानी–पानी–पानी....

वह—वह—वह क्या भूमिकी रेखा है? वह छाया-सी—क्या पेड़ हैं?

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

मोहन—मोहन··क्योंकि नीलीका नाम वह लेगा तो चंचल हो उठेगा, और चंचल उसे नहीं होना है, उसे धैर्य रखना है, जितना धैर्य उसने जीवनमें कभी नहीं रखा उतना····

धैर्यका काम अभी शेष नहीं हुआ है। नावपर मोहन उसके साथ है, पर अब हवा सामनेकी है, और तेज़ है। और मोहनकी चिन्ताके मिटनेमें जो अनेक नयी दुश्चिन्ताएँ उसे घेर रही हैं उनसे हारना नहीं है, नहीं है···

खट्ट-हुट्, खट्ट-हुट्,····सर-सर-सर-सर-छप्प-छाऽप····उद्वेलित पानीका प्रसार, हवाके थप्पड़ खाकर फुफकारती हुई लहरें, धुँधला पड़ता हुआ पहले ही से मेघिल संझाका आकाश····ऊब-डूब नाव, डांड़ चलानेवाला अकेला देवकान्त—तैरता हुआ उन्मूलित जलकुम्भीका पौधा—पौधा नहीं, फूल—फूलकी एक कलगी—नीली, जैसे मोहनकी आँखें नीली—

नीली····

न, न, नीलीका नाम उच्चारना नहीं होगा, उसे मन ही में रहने देना होगा····ऊब-डूब जलकुम्भीका पौधा—लेकिन पौधा तो डूबता नहीं, मीलों बहता है, दिनों बहता है····

पंजिकामें लिखा है, इस वर्षका नाम है, 'प्लव संवत्सर'—

ब्रह्मपुत्र····ब्रह्माका पुत्र····और मानव? वह भी ब्रह्माकी सन्तान····तो क्या यह भ्रातृ-कलह है? खट्ट-हुट्—सोचना कुछ नहीं है, ब्रह्माका केवल एक पुत्र है और उसका नाम है देवकान्त, बाक़ी केवल तत्त्व हैं, जड़ तत्त्व जिनमें आदमी नष्ट होकर मिलता है—नीचे एक तत्त्व है पानी—नष्ट होकर क्या इनमें मिलना होगा? क्यों मिलना होगा—नष्ट ही क्यों होना होगा?

लहर आती है और जलकुम्भीके पौधेको उछालकर फेंक देती है। वह डूबता नहीं, पर जायेगा कहाँ—दिनों और मीलों तक भी बहकर····

न—यह लहर नावसे बड़ी है, यह अँधेरा साँझसे गहरा है—

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

भूरा और शीतल, कठोर, डगमग, बिना पेंदीका, अँधेरा, बाँहके नीचे स्निग्ध, मुट्ठीमें गीला और कठैठा—

दिन और रात दोनों पारावार हैं, सारे क्षितिज आकर मिल जाते हैं, जलकुम्भी डूबती नहीं है, पर जलकुम्भी पानीका पौधा है, लकड़ीकी नाव नहीं····

फिर देशकालका संकुल : कौन-सा देश, कौन-सा काल, न जाने, पर घोर संकुल····

द्वीपपर केवल पटरी थी और पेड़ोंके शिखर थे। और पशु थे।

मोहन था। अलग एक छोटे-से बाड़ेमें।

और कौन कहाँ था। पर कालका संकुल था, वह जान नहीं सका। कहीं बजरा भी रहा होगा—लोग भी रहे होंगे····

नीली—नीलिमा ?

वहाँ कोई नहीं था। वे बाढ़के पहले चले गये होंगे। पर कब, कैसे ? कहाँ ?

नावमें—तो नाव बाढ़में कहाँ गयी होगी ?

नीलिमा—नीली—सागर-तल नीला होता है—पर नदी-तल तो उसने छुआ है, वहाँ तो नीलिमा नहीं, कीचड़ होता है या रेती, नीलिमा तो—

कहाँ है नीलिमा ?

नीलिमा····नीलिमा····नहीं, मोहन—मोहन उसकी बांहके नीचे है, मोहनको वह बचा लेगा। वही नहीं बचेगा तो ? तो भी वह मोहनको बचा लेगा, उसकी दूसरी मुट्ठीमें कठैठा कुछ है—क्या है ? डाँड़ तो उसके हाथसे छूट गयी थी—

कुछ भी हो, कुछ है। कठैठा है। वह जरूर ऊपर आयेगा—वह छोड़ेगा नहीं—तुम बचाकर रख सको सही—आगे भी जो दूँगी वापस नहीं माँगूँगी—मैंने कुछ भी जो तुम्हें दिया है कभी वापस माँगा है ? न माँगा

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

सहो, मैं दूँगा, मैं दूँगा, नीली ! क्या दोगे, प्राण ही तो न ? हा—हा—तभी तो तुम कुछ नहीं दे सकोगे—कुछ नहीं सँभाल सकोगे····

नहीं—नहीं—नहीं····मोहन अब भी उसकी बाँहके नीचे है, दूसरे हाथकी मुट्ठीमें अब भी कठैठा कुछ है—वह उभरेगा, उभरेगा—यह पानीके नीचे ऐसी जलती प्यास कैसी—यह हवाकी प्यास है, वह—उसकी मुट्ठीमें कठैठा कुछ····

कितनी गहरी है नीलिमा आकाशकी—उस आकाशकी जो आँखोंके भीतर समा जाता है, कितनी स्निग्ध है तरलता जलकी—उस जलकी जिसमें चेतना डूब जाती है, कितना सुन्दर है जलकुम्भीका खोया हुआ फूल, वह फूल जो जीवनका प्रतीक है, कितना रसमय, स्फूर्तिमय है विस्तार अवचेतनका····

वह नहीं जानता, किन्तु वह जानता है कि वह बार-बार किसी चीज़से रगड़ खा जाता है—कुछ जो चिकना है पर छील भी देता है, जिससे दर्द नहीं होता पर ठण्डकी सुइयाँ चुभती हैं। उसे स्पर्श-ज्ञान नहीं है पर वह छूता है एक लोमिल त्वचाको जो मोहन है, और एक कठैठे कुछको जो न जाने क्या है। उसके मुँहमें पानीका एक बुलबुला है, पर न जाने कब कैसे उसके फेफड़ोंमें क्या चला जाता है जो गीला नहीं है····

ये स्वर हैं। पानीके नहीं, नावके नहीं, हवाके नहीं। स्वर हैं—मानव-स्वर हैं। झिपते उभरते, मानो रवहीन।

"बाँह तो उठाओ····पकड़े····गला घोंट देगा····अकड़ गयी है····कपड़े में लपेटो····मलो····पानी····ऊँचा····वह····हिरन····पागल····"

हिरन····हिरन····

क्या हिरन ? उफ़ कितना कठिन प्रयास है यह—क्या उसे बटोरना है—

सहसा उसकी आँखें खुल गयीं—उसे स्वयं नहीं मालूम हुआ—और उसने कहा, "मोहन—हिरन—"

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

किसीने कहा, "हाँ, वह है—बच जायेगा—"

कौन बच जायेगा ? मोहन ? वह ?

वह कौन ? वह देवकान्त । पर वह तो बच गया है—नहीं तो वह देवकान्त कैसे है ? सोचता कौन है ?

उसने फिर रवहीन स्वरसे कहा, "मोहन...."

उसकी आँखें झिप गयीं । नीलिमाने फिर उसे घेर लिया । दूर कहीं सुना, "चिन्ता नहीं—बच जायेगा—"फिर सब कुछ बुझ गया ।

मन-ही-मन उसने कहा, "नीली, मैं रख सकूँगा बचाकर" पर जैसे उसका कहा उसीने नहीं सुना । नीली तो बहुत दूर थी, पता नहीं थी भी कि नहीं ।

पर और कुछ उसने फिर सुना बड़ी दूरसे, जैसे पानीके नीचेसे, ब्रह्म-पुत्रके अथाह पानीके नीचेसे—"पागल—बेहोशीमें हँसता है ।"

हाँ, तो हँसता तो है, नीली हँसी—सम्पृक्त हँसी—वह हँसी जो नीली थी—उसकी नीलिमा !

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

मेजर चौधरीकी वापसी

किसीकी टाँग टूट जाती है, तो साधारणतया उसे बधाईका पात्र नहीं माना जाता। लेकिन मेजर चौधरी जब छह सप्ताह अस्पतालमें काटकर बैसाखियोंके सहारे लड़खड़ाते हुए बाहर निकले, और बाहर निकलकर उन्होंने मिज़ाजपुर्सीके लिए आये हुए अफ़सरोंको बताया कि उनकी चार सप्ताहकी 'वार लीव'के साथ उन्हें छह सप्ताहकी 'कम्पैशनेट लीव'[1] भी मिली है, और उसके बाद ही शायद कुछ और छुट्टीके अनन्तर उन्हें सैनिक नौकरीसे छुटकारा मिल जायेगा, तब सुननेवालोंके मनमें अवश्य ही ईर्ष्याकी लहर दौड़ गयी थी। क्योंकि मोकोक्चङ् यों सब-डिवीज़नका केन्द्र क्यों न हो, वैसे वह नगा पार्वत्य जंगलोंका ही एक हिस्सा था, और जोंक, दलदल, मच्छर, चूती छतें, कीचड़ फ़र्श, पीनेको उबाला जानेपर भी गँदला पानी और खानेको पानीमें भिगोकर ताज़े किये गये सूखे आलू-प्याज—ये सब चीज़ें ऐसी नहीं हैं कि दूसरोंके सुख-दुखके प्रति सहज औदार्यकी भावनाको जाग्रत करें ?

मैं स्वयं मोकोक्चङ्में नहीं, वहाँसे तीस मील नीचे मरियानीमें रहता था, जो कि रेलकी पक्की सड़क-द्वारा सेवित छावनी थी। मोकोक्चङ् अपनी सामग्री और उपकरणोंके लिए मरियानीपर निर्भर था इसलिए मैं जब-तब एक दिनके लिए मोकोक्चङ् जाकर वहाँकी अवस्था देख आया करता था। नाकाचारी चार-आलीसे[2] आगे रास्ता बहुत ही खराब है और गाड़ी कीच-काँदोंमें फँस-फँस जाती है, किन्तु उस प्रदेशकी आब नगा जातिके हँसमुख चेहरों और साहाय्य-तत्पर व्यवहारके कारण वह जोखम

---

१. समवेदना-जन्य छुट्टी। २. चार-आली = चौरास्ता, आली असमियामें सड़कको कहते हैं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

बुरी नहीं लगती ।

मुझे तो मरियानी लौटना था ही, मेजर चौधरी भी मेरे साथ ही चले—मरियानीसे रेल-द्वारा वह गौहाटी होते हुए कलकत्ते जायेंगे और वहाँसे अपने घर पश्चिमको····

स्टेशन-वैगन चलाते-चलाते मैंने पूछा, "मेजर साहब, घर लौटते हुए कैसा लगता है ?" और फिर इस डरसे कि कहीं मेरा प्रश्न उन्हें कष्ट ही न दे, "आपके इस—इस एक्सिडेण्टसे अवश्य ही इस प्रत्यागमनपर एक छाया पड़ गयी है, पर फिर भी घर तो घर है —"

अस्पतालके छह हफ़्ते मनुष्यके मनमें गहरा परिवर्तन कर देते हैं, यह अचानक तब जाना जब मेजर चौधरीने कुछ सोचते-से उत्तर दिया, "हाँ घर तो घर ही है। पर जो एक बार घरसे जाता है, वह लौटकर भी घर लौटता ही है, इसका क्या ठिकाना ?"

मैंने तीखी दृष्टिसे उनकी ओर देखा । कौन-सा गोपन दुःख उन्हें खा रहा है—'घर'की स्मृतिको लेकर कौन-सा वेदनाका ठूँठ इनकी विचार-धारामें अवरोध पैदा कर रहा है ? पर मैंने कुछ कहा नहीं, प्रतीक्षामें रहा कि कुछ और कहेंगे ।

देर तक मौन रहा, गाड़ी नाकाचारीकी लीकमें उचकती-धचकती चलती रही ।

थोड़ी देर बाद मेजर चौधरी फिर धीरे-धीरे कहने लगे, "देखो, प्रधान, फ़ौजमें जो भरती होते हैं न जाने क्या-क्या सोचकर, किस-किस आशासे । कोई-कोई अभागा आशासे नहीं, निराशासे भी भरती होता है, और लौटनेकी कल्पना नहीं करता । लेकिन जो लौटनेकी बात सोचते हैं—और प्रायः सभी सोचते हैं—वे मेरी तरह लौटनेकी बात नहीं सोचते—"

उनका स्वर मुझे चुभ गया । मैंने सान्त्वनाके स्वरमें कहा, "नहीं मेजर चौधरी, इतने हतधैर्य आपको नहीं—"

"मुझे कह लेने दो, प्रधान !"

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

मैं रुक गया।

"मेरी जाँघ और कूल्हेमें चोट लगी थी, अब मैं सेनाके कामका न रहा पर आजीवन लँगड़ा रहकर भी वैसे चलने-फिरने लगूँगा, यह तुमने अस्पतालमें सुना है। सिविल जीवनमें कई पेशे हैं जो मैं कर सकता हूँ। इसलिए घबरानेकी कोई बात नहीं। ठीक है न? पर—" मेजर चौधरी फिर रुक गये और मैंने लक्ष्य किया कि आगेकी बात कहनेमें उन्हें कष्ट हो रहा है, "पर चोटें ऐसी भी होती हैं—जिनका इलाज—नहीं होता····"

मैं चुपचाप सुनता रहा।

"भरती होनेसे साल-भर पहले मेरी शादी हुई थी। तीन साल हो गये। हम लोग साथ लगभग नहीं रहे—वैसी सुविधाएँ नहीं हुईं। हमारी कोई सन्तान नहीं है।"

फिर मौन। क्या मेरी ओरसे कुछ अपेक्षित है? किन्तु किसी आन्तरिक व्यथाकी बात अगर वह कहना चाहते हैं, तो मौन ही सहायक हो सकता है, वही प्रोत्साहन है।

"सोचता हूँ, दाम्पत्य-जीवनमें शुरूमें—इतनी—कोमलता न बरती होती! कहते हैं कि स्त्री-पुरुषमें पहले सख्य आना चाहिए—मानसिक अनुकूलता—"

मैंने कनखियोंसे उनकी तरफ़ देखा। सीधे देखनेसे स्वीकारी अन्तरात्माकी खुलती सीपी खट्से बन्द हो जाया करती है। उन्हें कहने दूँ।

पर उन्होंने जो कहा उसके लिए मैं बिलकुल तैयार नहीं था और अगर उनके कहनेके ढंगमें ही इतनी गहरी वेदना न होती तो जो शब्द कहे गये थे उनसे पूरा व्यंजनार्थ भी मैं न पा सकता····

"हमारी कोई सन्तान नहीं है। और अब—जिससे आगे कुछ नहीं है वह सख्य भी कैसे हो सकता है? उसे—एक सन्तानका ही सहारा होता····कुछ नहीं! प्रधान, यह 'कम्पैशनेट लीव' अच्छा मज़ाक़ है—कम्पैशन भगवान्को छोड़कर और कौन दे सकता है और मृत्युके अलावा

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

होता कहाँ है ? अब इतिसे आरम्भ है ! घर !" कुछ रुककर, "वापसी ! घर !"

मैं सन्न रह गया । कुछ बोल न सका । थोड़ी देर बाद चौंककर देखा कि गाड़ीकी चाल अपने-आप बहुत धीमी हो गयी है, इतनी कि तीसरे गीयरपर वह झटके दे रही है । मैंने कुछ सँभलकर गीयर बदला, और फिर गाड़ी तेज करके एकाग्र होकर चलाने लगा—नहीं, एकाग्र होकर नहीं, एकाग्र दीखता हुआ ।

तब मेजर चौधरी एक बार अपना सिर झटकेसे हिलाकर मानो उस विचारश्रृंखलाको तोड़ते हुए सीधे होकर बैठ गये । थोड़ी देर बाद उन्होंने कहा, "क्षमा करना, प्रधान, मैं शायद अनकहनी कह गया । तुम्हारे प्रश्नों के लिए तैयार नहीं था—"

मैंने रुकते-रुकते कहा—"मेजर, मेरे पास शब्द नहीं हैं कि कुछ कहूँ—"

"कहोगे क्या, प्रधान ? कुछ बातें शब्दोंसे परे होती हैं—शायद कल्पनासे भी परे होती हैं । क्या मैं भी जानता हूँ कि—कि घर लौटकर मैं क्या अनुभव करूँगा ? छोड़ो इसे । तुम्हें याद है, पिछले साल मैं कुछ महीने मिलिटरी पुलिसमें चला गया था ?"

मैंने जाना कि मेजर विषय बदलना चाह रहे हैं । पूरी दिलचस्पीके साथ बोला, "हाँ-हाँ । वह अनुभव भी अजीब रहा होगा ।"

"हाँ । तभीको एक बात अचानक याद आयी है । मैं शिलंगमें प्रोवोस्ट मार्शलके[1] दफ़्तरमें था । तब—वे डिवीज़नकी कुछ गोरी पलटनें वहाँ विश्राम और नये सामानके लिए बर्मासे लौटकर आयीं थीं ।"

"हाँ, मुझे याद है । उन लोगोंने कुछ उपद्रव भी वहाँ खड़ा किया था—"

---

१. सैनिक पुलिसका उच्चाधिकारी प्रोवोस्ट मार्शल कहलाता है ।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

"काफ़ी ! एक रात मैं जीप लिये गश्तपर जा रहा था। हैपी वैलीकी छावनीसे जो सड़क शिलंग बस्तीको आती है वह बड़ी टेढ़ी-मेढ़ी और उतार-चढ़ावकी है और चीड़के झुरमुटोंसे छायी हुई, यह तो तुम जानते हो। मैं एक मोड़से निकला ही था कि मुझे लगा कुछ चीज रास्तेसे उछल कर एक ओरको दुबक गयी है। गीदड़-लोमड़ी उधर बहुत हैं, पर उनकी फलाँग ऐसी अनाड़ी नहीं होती, इसलिए मैं रुक गया। झुरमुटोंके किनारे खोजते हुए मैंने देखा; एक गोरा फ़ौजी छिपना चाह रहा है। छिपना चाहता है तो अवश्य अपराधी है, यह सोचकर मैंने उसे ज़रा धमकाया और नाम, नम्बर, पलटन आदिका पता लिख लिया। वह बिना पासके रातको बाहर तो था ही, पूछनेपर उसने बताया कि वह एक मील और नीचे नाङ्-थिम्-माईकी बस्तीको जा रहा था। इससे आगेका प्रश्न मैंने नहीं पूछा—उन प्रश्नोंका उत्तर तुम जानते ही हो और पूछकर फिर कड़ा दण्ड देना पड़ता है जो कि अधिकारी नहीं चाहते—जबतक कि खुल्लम-खुल्ला कोई बड़ा स्कैण्डल न हो।"

"हूँ। मैंने तो सुना है कि यथासम्भव अनदेखी की जाती है ऐसी बातोंकी। बल्कि कोई वेश्यालयमें पकड़ा जाये और उसकी पेशी हो तो असली अपराधके लिए नहीं होती, वरदी ठीक न पहनने या अफ़सरकी अवज्ञा या ऐसे ही किसी जुर्मके लिए होती है।"

"ठीक ही सुना है तुमने। असली अपराधके लिए ही हुआ करे तो अव्वल तो चालान इतने हों कि सेना बदनाम हो जाये; इससे इसका असर फ़ौजियोंपर भी तो उलटा पड़े—उनका दिमाग़ हरवक़्त उधर ही जाया करे। ख़ैर। उस दिन तो मैंने उसे डाँट-डपटकर छोड़ दिया। पर दो दिन बाद फिर एक अजीब परिस्थितिमें उसका सामना हुआ।"

"वह कैसे ?"

"उस दिन मैं अधिक देर करके जा रहा था। आधी रात होगी, गश्त पर जाते हुए उसी जगहके आस-पास मैंने एक चीख सुनी। गाड़ी रोककर

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

मैंने बत्ती बुझा दी और टार्च लेकर एक पुलियाकी ओर गया जिधरसे आवाज़ आयी थी। मेरा अनुमान ठीक ही था; पुलियाके नीचे एक पहाड़ी औरत गुस्सेसे भरी खड़ी थी, और कुछ दूरपर एक अस्त-व्यस्त गोरा फ़ौजी, जिसकी टोपी और पेटी जमीनपर पड़ी थी और बुशशर्ट हाथमें। मैंने नीचे उतरकर डाँटकर पूछा, "यह क्या है?" पर तभी मैंने उस फ़ौजीकी आँखोंमें देखकर पहचाना कि एक तो वह परसोंवाला व्यक्ति है, दूसरे वह काफ़ी नशेमें है। मैंने और भी कड़े स्वरमें पूछा, "तुम्हें शरम नहीं आती? क्या कर रहे थे तुम?"

"वह बोला, 'यह मेरी है।' "

"मैंने कहा, 'बको मत!' और उस औरतसे कहा कि वह चली जाये। पर वह ठिठकी रही। मैंने उससे पूछा, 'जाती क्यों नहीं?' तब वह कुछ सहमी-सी बोली, 'मेरे रुपये ले दो'।"

"काफ़ी बेशर्म ही रही होगी वह भी!"

"हाँ, मामला अजीब ही था। दोनोंको डाँटनेपर दोनोंने जो टूटे-फूटे वाक्य कहे उससे यह समझमें आया कि दो-तीन घण्टे पहले वह गोरा एक बार उस औरतके पास हो गया था और फिर आगे गाँवकी तरफ़ चला गया था। लौटकर फिर उसे वह रास्तेमें मिली तो गोरेने उसे पकड़ लिया था। झगड़ा इसी बातका था कि गोरेका कहना था, वह रातके पैसे दे चुका है, और औरतका दावा था कि पिछला हिसाब चुकता था, और अब फ़ौजी उसका देनदार है! मैंने उसे धमकाकर चलता किया। पहले तो वह गालियाँ देने लगी पर जब उसने देखा कि गोरा भी गिरफ़्तार हो गया है तो बड़बड़ाती चली गयी?"

"फिर गोरेका क्या हुआ? उसे तो कड़ी सज़ा मिलनी चाहिए थी?"

मेजर चौधरी थोड़ी देर तक चुप रहे। फिर बोले, "नहीं, प्रधान, उसे सज़ा नहीं मिली। मालूम नहीं वह मेरी भूल थी या नहीं, पर जीपमें ले आनेके घण्टा-भर बाद मैंने उसे छोड़ दिया।"

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

मैंने अचानक कहा, "वाह, क्यों ?" फिर यह सोचकर कि यह प्रश्न कुछ अशिष्ट-सा हो गया है, मैंने फिर कहा, "कुछ विशेष कारण रहा होगा—"

"कारण ? हाँ, कारण····या शायद। यह तो इसपर है कि कारण कहते किसे हैं। मैंने जैसे छोड़ा वह बताता हूँ।"

मैं प्रतीक्षा करता रहा। मेजर कहने लगे, "उसे मैं जीपमें ले आया। थोड़ी देर टार्चका प्रकाश उसके चेहरेपर डालकर घूमता रहा कि वह और ज़रा सहम जाये। तब मैंने कड़ककर पूछा, 'तुम्हें शरम नहीं आयी अपनी फ़ौजका और ब्रिटेनका नाम कलङ्कित करते ? अभी परसों मैंने तुम्हें पकड़ा था और माफ़ कर दिया था।' मेरे स्वरका उसके नशेपर कुछ असर हुआ। ज़रा सँभलकर बोला, 'सर, मैं कुछ बुरा नहीं करना चाहता था—' मैंने फिर डाँटा, 'सड़कपर एक औरतको पकड़ते हो और कहते हो कि बुरा करना नहीं चाहते थे ?' वह बग़लें झाँकने लगा, पर फिर भी सफ़ाई देता हुआ-सा बोला, 'सर, वह अच्छी औरत नहीं है। वह रुपया लेती है—मैं तीन दिनसे रोज उसके पास आता हूँ।' मैंने सोचा, बेहयाई इतनी हो तो कोई क्या करे ? पर इस टामी जन्तुमें जन्तुका-सा सीधापन भी है जो ऐसी बात कर रहा है। मैंने कहा, 'और तुम तो अपनेको बड़ा अच्छा आदमी समझते होगे न, एकदम स्वर्गसे झरा हुआ फ़रिश्ता ?' वह वैसे ही बोला, 'नहीं सर, लेकिन—लेकिन—'

मैंने कहा, लेकिन क्या ? तुमने अपनी पलटनका और अपना मुँह काला किया है, और कुछ नहीं।' तभी मुझे उस औरतकी बात याद आयी कि वह कुछ घण्टे पहले उसके पास हो गया था, और मेरा गुस्सा फिर भड़क उठा। मैंने उससे कहा, 'थोड़ी देर पहले तुम एक बार बचकर चले भी गये थे, उससे तुम्हें सन्तोष नहीं हुआ ? आगे गाँवमें कहाँ गये थे ? एक बार काफ़ी नहीं था !"

"अबतक वह कुछ और सँभल गया था। बोला, 'सर, ग़लती मैंने

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

की है। लेकिन—लेकिन मैं अपने साथियोंसे बराबर होना चाहता हूँ—'

"मैंने चौंककर कहा, 'क्या मतलब ?' "

"वह बोला, 'हमारा डिवीज़न छह हफ़्ते हुए यहाँ आ गया था, आप जानते हैं। डेढ़ सालसे हम लोग फ्रण्टपर थे जहाँ औरतका नाम नहीं, खाली मच्छड़ और कीचड़ और पेचिश होती है। वहाँसे मेरी पलटन छह हफ़्ते पहले लौटी थी, पर मैं एक ब्रेकडाउन टुकड़ीके साथ पीछे रह गया था।'

" 'तो फिर ?' मैंने पूछा।"

"बोला, 'डिवीज़नमें मेरी पलटन सबसे पहले यहाँ आयी थी, बाक़ी पलटनें पीछे आयीं। छह हफ़्तेसे वे लोग यहाँ हैं, और मैं कुल परसों आया हूँ और दस दिनमें हम लोग वापस चले जायेंगे।' "

"मैंने डाँटा, 'तुम्हारा मतलब क्या है ?' उसने फिर धीरे-धीरे जैसे मुझे समझाते हुए कहा, 'सारे शिलंगके गाँवोंकी, नेटिव बस्तियोंकी छाँट उन्होंने की है। मैं केवल परसों आया हूँ और दस दिन हमें और रहना है। मैं उनके बराबर होना चाहता हूँ, किसी—से पीछे मैं नहीं रहना चाहता।' "

मेजर चौधरी चुप हो गये। मैं भी कुछ देर चुप रहा। फिर मैंने कहा, "क्या दलील है! ऐसा विकृत तर्क वह कर कैसे सका—नशेका ही असर रहा होगा। फिर आपने क्या किया ?"

"मैं मानता हूँ कि तर्क विकृत है। पर इसे पेश कर सकनेमें मनुष्यसे नीचेके निरे मानव-जन्तुका साहस है, बल्कि साहस भी नहीं, निरी जन्तु-बुद्धि है, और इसलिए उसपर विचार भी उसी तलपर होना चाहिए ऐसा मुझे लगा। समझ लो जन्तुने जन्तुको माफ़ कर दिया। बल्कि यह कहना चाहिए कि जन्तुने जन्तुको अपराधी ही नहीं पाया।" कुछ रुककर वह कहते गये, "यह भी मुझे लगा कि व्यक्तिमें ऐसी भावना पैदा करनेवाली सामूहिक मन:स्थिति ही हो सकती है, और यदि ऐसा है तो समूहको ही दायी मानना चाहिए।"

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

स्टेशन-वैगन हचकोले खाता हुआ बढ़ता रहा। मैं कुछ बोला नहीं। मेजर चौधरीने कहा, "तुमने कुछ कहा नहीं। शायद तुम समझते हो कि मैंने भूल की, इसीलिए चुप हो। पर वैसा कह भी दो तो मैं बुरा न मानूँ—मेरा बिलकुल दावा नहीं है कि मैंने ठीक किया।"

मैंने कहा, "नहीं, इतना आसान तो नहीं है कुछ कह देना—" और चुप लगा गया। अपने अनुभवकी भी एक घटना मुझे याद आयी, उसे मैं मन-ही-मन दोहराता रहा। फिर मैंने कहा, "एक ऐसी ही घटना मुझे भी याद आती है—"

"क्या?"

"उसमें ऐसा तीखापन तो नहीं है, पर जन्तु-तर्ककी बात वहाँ भी लागू होती। एक दिन जोरहाटमें क्लबमें एक भारतीय नृत्य-मण्डली आयी थी—हम लोग सब देखने गये थे। उस मण्डलीको और आगे लीडो रोड-की तरफ़ जाना था, इसलिए उसे एक ट्रकमें बिठाकर मरियानी स्टेशन भेजनेकी व्यवस्था हुई। मुझे उस ट्रकको स्टेशन तक सुरक्षित पहुँचा देने का काम सौंपा गया।

"ट्रकमें मण्डलीकी छहों लड़कियाँ और साज़िन्दे वग़ैरह बैठ गये, तो मैंने ड्राइवरको चलनेको कहा। गाड़ीसे उड़ी हुई धूलको बैठ जानेके लिए कुछ समय देकर मैं भी जीपमें क्लबसे बाहर निकला। कुछ दूर तो बजरी-की सड़क थी, उसके बाद जब पक्की तारकोलकी सड़क आयी और धूल बन्द हो गयी तो मैंने तेज बढ़कर ट्रकको पकड़ लेनेकी सोची। कुछ देर बाद सामने ट्रककी पीठ दीखी, पर उसकी ओर देखते ही मैं चौंक गया।"

"क्यों, क्या बात हुई?"

"मैंने देखा, ट्रककी छत तक बाँहें फैलाये और पीठकी तख़्तीके ऊपरी सिरेको दाँतोंसे पकड़े हुए एक आदमी लटक रहा था। तनिक और पास आकर देखा, एक बावर्दी गोरा था। उसके पैर किसी चीज़पर टिके नहीं थे, बूट यों ही झूल रहे थे। क्षण-भर तो मैं चकित सोचता ही रहा कि

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

क्या दाँतों और नाख़ूनोंकी पकड़ इतनी मज़बूत हो सकती है ! फिर मैंने लपककर जीप उस ट्रकके बराबर करके ड्राइवरको रुक जानेको कहा ।"

"फिर ?"

"ट्रक रुका तो हमने उस आदमीको नीचे उतारा । उसके हाथोंकी पकड़ इतनी सख्त थी कि हमने उसे उतार लिया तब भी उसकी उँगलियाँ सीधी नहीं हुईं—वे जकड़ी-जकड़ी ही ऐंठ गयी थीं ! और गोरा नीचे उतरते ही ज़मीनपर ही ढेर हो गया ।"

"ज़रूर पिये हुए होगा—"

"हाँ—एकदम धुत् ! आँखोंकी पुतलियाँ बिलकुल विस्फारित हो रही थीं, वह भौचक्का-सा बैठा था । मैंने डपटकर उठाया तो लड़खड़ाकर खड़ा हो गया । मैंने पूछा, 'तुम ट्रकके पीछे क्यों लटके हुए थे ?' तो बोला, 'सर, मैं लिफ़्ट चाहता हूँ ?' मैंने कहा, 'लिफ़्टका वह कोई ढंग है ? चलो, मेरी जीपमें चलो, मैं पहुँचा दूँगा । कहाँ जाना है तुम्हें ?' इसका उसने कोई उत्तर नहीं दिया । हम लोग जीपमें घुसे, वह लड़खड़ाता हुआ चढ़ा और पीछे सीटोंके बीचमें फ़र्शपर धप्से बैठ गया ।

"हम चल पड़े । हठात् उसने पूछा, 'सर, आप स्कॉच हैं ?' मैंने लक्ष्य किया नशेमें वह यह नहीं पहचान सकता कि मैं भारतीय हूँ या अंगरेज़, पर इतना पहचानता है कि मैं अफ़सर हूँ और 'सर' कहना चाहिए । फ़ौजी ट्रेनिंग भी बड़ी चीज़ है जो नशेकी तहको भी भेद जाती है ! खैर । मैंने कहा, 'नहीं, मैं स्कॉच नहीं हूँ ।'

"वह जैसे अपनेसे ही बोला, 'डैम फ़ाइन ह्विस्की ।' और ज़बान चटखारने लगा । मैं पहले तो समझा नहीं, फिर अनुमान किया कि स्कॉच शब्दसे उसका मदसिक्त मन केवल ह्विस्कीका ही सम्बन्ध जोड़ सकता है····तब मैंने कहा, 'हाँ । लेकिन तुम जाओगे कहाँ ?"

"बोला, 'मुझे यहीं कहीं उतार दीजिए—जहाँ कहीं कोई नेटिव गाँव पास हो ।' मैंने डपटकर कहा, 'क्यों, क्या मंशा है तुम्हारा ?' तब उसका

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

स्वर अचानक रहस्य-भरा हो आया, और वह बोला, 'सच बताऊँ सर, मुझे औरत चाहिए ?' मैंने कहा, 'यहाँ कहाँ है औरत ?' तो बोला, 'सर, मैं ढूँढ़ लूँगा, आप कहीं गाँव-वाँवके पास उतार दीजिए।' "

"फिर तुमने क्या किया ?"

"मेरे जीमें तो आयी कि दो थप्पड़ लगाऊँ। पर सच कहूँ तो उसके 'मुझे औरत चाहिए' के निर्व्याज कथनने ही मुझे निरस्त्र कर दिया—मुझे भी लगा कि इस जन्तुत्वके स्तरपर मानव ताडनीय नहीं, दयनीय है। मैंने तीन-चार मील आगे सड़कपर उसे उतार दिया—जहाँ आस-पास कहीं गाँवका नाम-निशान न हो और लौट जाना भी ज़रा मेहनत का काम हो। अबतक कई बार सोचता हूँ कि मैंने उचित किया या नहीं—"

"ठीक ही किया—और क्या कर सकते थे ? दण्ड देना कोई इलाज न होता। मैं तो मानता हूँ कि जन्तुके साथ जन्तुतर्क ही मानवता है, क्योंकि वही करुण; और न्याय, अनुशासन, ये सब अन्याय हैं जो उस जन्तुत्वको पाशविकता ही बना देंगे।"

हम लोग फिर बहुत देर तक चुप रहे। नाकाचारी चार-आली पार करके हमने नरियानीकी सड़क पकड़ ली थी; कच्ची यह भी थी पर उतनी ख़राब नहीं, और हम पीछे धूलके बादल उड़ाते हुए ज़रा तेज़ चल रहे थे। अचानक मेजर चौधरी मानो स्वगत कहने लगे, "और मैं मनुष्य हूँ। मैं नहीं सोच सकता कि 'यह मेरी है' या कि 'मुझे औरत चाहिए !' मैं छुट्टीपर जा रहा हूँ—कम्पैशनेट छुट्टीपर। कम्पैशन यानी रहम—मुझ-पर रहम किया गया है, क्योंकि मैं उस गोरेकी तरह हिर्स नहीं कर सकता कि मैं किसीके बराबर होना चाहता हूँ। नहीं, हिर्स तो कर सकता हूँ, पर मनुष्य हूँ और मैं वापस जा रहा हूँ घर। घर !"

मैं चुपचाप आँखें सामने गड़ाये स्टेशन-वैगन चलाता रहा और मानता रहा कि मेजरका वह अजीब स्वरमें उच्चारित शब्द, 'घर !'

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

गाड़ीकी घर्र-घर्रमें लीन हो जाये; उसे सुनने, सुनकर स्वीकारनेकी बाध्यता न हो।

उन्होंने फिर कहा, "एक बार मैं ट्रेनसे आ रहा था तो उसी कम्पार्टमैण्टमें छुट्टीसे लौटता हुआ एक पंजाबी सूबेदार-मेजर अपने एक साथीको अपनी छुट्टीका अनुभव सुना रहा था। 'मैं ध्यान तो नहीं दे रहा था, पर अचानक एक बात मेरी चेतनापर अँक गयी और उसकी स्मृति बनी रह गयी। सूबेदार-मेजर कह रहा था, 'छुट्टी मिलती नहीं थी, कुल दस दिनकी मंजूर हुई तो घरवालीको तारीखें लिखीं, पर उसका तार आया कि छुट्टी और पन्द्रह दिन बाद लेना। मुझे पहले तो सदमा पहुँचा पर उसने चिट्ठीमें लिखा था कि दस दिनकी छुट्टीमें तीन तो आने-जानेके, बाक़ी छह दिनमें-से मैं नहीं चाहती कि तीन यों ही जाया हो जायें।' और इसपर उसके साथीने दबी ईर्ष्याके साथ कहा था, 'तक़दीरवाले हो भाई....''

मैंने कहा, "युद्धमें इनसानका गुण-दोष सब चरम रूप लेकर प्रकट होता है। मुश्किल यही है कि गुण प्रकट होते हैं तो मृत्युके मुखमें ले जाते हैं, दोष सुरक्षित लौटा लाते हैं। युद्धके खिलाफ़ यह कम बड़ी दलील नहीं है—प्रत्येक युद्धके बाद इनसान चारित्रिक दृष्टिसे और ग़रीब होकर लौटता है।"

"यद्यपि कहते हैं कि तीखा अनुभव चरित्रको पुष्ट करता है—"

"हाँ, लेकिन जो पुष्ट होते हैं वे लौटते कहाँ हैं?" कहते-कहते मैंने जीभ काट ली, पर बात मुँहसे निकल गयी थी।

मेजर चौधरीकी पलकें एक बार सकुचकर फैल गयीं, जैसे नश्तरके नीचे कोई अङ्ग होनेपर। उन्होंने सँभलकर बैठते हुए कहा, "थैंक यू, कैप्टेन प्रधान! हम लोग मरियानीके पास आ गये—मुझे स्टेशन उतारते जाना, तुम्हारे डिपो जाकर क्या करूँगा—"

तिराहेसे गाड़ी मैंने स्टेशनकी ओर मोड़ दी।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

जय-दोल

लेफ़्टिनेण्ट सागरने अपना कीचड़से सना चमड़ेका दस्ताना उतारकर, ट्रकके दरवाज़ेपर पटकते हुए कहा, "गुरुंग, तुम गाड़ीके साथ ठहरो, हम कुछ बन्दोबस्त करेगा।"

गुरुंग सड़ाक्से जूतोंकी एड़ियाँ चटका कर बोला, "ठीक ए सा'ब !"

साँझ हो रही थी। तीन दिन मूसलाधार बारिशके कारण नवगाँवमें रुके रहनेके बाद, दोपहरको थोड़ी देरके लिए आकाश खुला तो लेफ़्टिनेण्ट सागरने और देर करना ठीक न समझा। ठीक क्या न समझा, आगे जानेके लिए वह इतना उतावला हो रहा था कि उसने लोगोंकी चेतावनीको अनावश्यक सावधानी माना, और यह सोचकर कि वह कमसे-कम शिवसागर तो जा ही रहेगा रात तक, वह चल पड़ा था। जोरहाट पहुँचने तक ही शाम हो गयी थी, पर उसे शिवसागरके मन्दिर देखनेका इतना चाव था कि वह रुका नहीं, जल्दीसे चाय पीकर आगे चल पड़ा। रात जोरहाटमें रहे तो सवेरे चलकर सीधे डिबरूगढ़ जाना होगा, रात शिवसागरमें रहकर सवेरे वह मन्दिर और तालको देख सकेगा। शिवसागर, रुद्रसागर, जयसागर....कैसे सुन्दर नाम हैं। सागर कहलाते हैं तो बड़े-बड़े ताल होंगे....और प्रत्येकके किनारेपर बना हुआ मन्दिर कितना सुन्दर दीखता होगा....असमिया लोग हैं भी बड़े साफ़-सुथरे, उनके गाँव इतने स्वच्छ होते हैं तो मन्दिरोंका क्या कहना....शिव-दोल, रुद्र-दोल, जय-दोल.... सागर-तटके मन्दिरको दोल कहना कैसी सुन्दर कवि-कल्पना है। सचमुच जब तालके जलमें, मन्द-मन्द हवासे सिहरती चाँदनीमें, मन्दिरकी कुहासे-सी परछाईं दोलती होगी, तब मन्दिर सचमुच सुन्दर हिंडोले-सा दीखता होगा.... इसी उत्साहको लिये वह बढ़ता जा रहा था....तीस-पैंतीस मीलका क्या है....

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

घण्टे-भरकी बात है····

लेकिन सात-एक मील बाक़ी थे कि गाड़ी कच्ची सड़कके कीचड़में फँस गयी, पहले तो स्टीयरिंग ऐसा मक्खन-सा नरम चला, मानो गाड़ी नहीं नावकी पतवार हो, और नाव बड़ेसे भँवरमें हचकोले खाती झूम रही हो; फिर लेफ़्टिनेण्टके सँभालते-सँभालते गाड़ी धीमी होकर रुक गयी, यद्यपि पहियोंके घूमते रहकर कीचड़ उछलनेकी आवाज़ आती रही····

इसके लिए साधारणतः तैयार होकर ही ट्रक चलते थे। तुरन्त बेलचा निकाला गया, कीचड़ साफ़ करनेकी कोशिश हुई लेकिन कीचड़ गहरा और पतला था, बेलचेका नहीं, पम्पका काम था ! फिर टायरोंपर लोहेकी जंजीरें चढ़ायी गयीं। पहिये घूमनेपर कहीं पकड़नेको कुछ मिले तो गाड़ी आगे ठिले—मगर चलानेकी कोशिशपर लीक गहरी कटती गयी और ट्रक धँसता गया, यहाँतक कि नीचेका गीयर-बक्स भी कीचड़में डूबनेको हो गया····मानो इतना काफ़ी न हो; तभी इंजनने दो-चार बार फट्-फट्-फटर का शब्द किया और चुप हो गया····फिर स्टार्ट ही न हुआ····

अँधेरेमें गुरुंगका मुँह नहीं दीखता था और लेफ़्टिनेण्टने मन-ही-मन सन्तोष किया कि गुरुंगको उसका मुँह भी नहीं दीखता होगा····गुरुंग गोरखा था और फ़ौजी गोरखोंकी भाषा कमसे-कम भावनाकी दृष्टिसे गूँगी होती है मगर आँखें या चेहरेकी झुर्रियाँ सब समय गूँगी नहीं होतीं····और इस समय अगर उनमें लेफ़्टिनेण्ट सा'ब की भावुक उतावलीपर विनोदका आभास भी दीख गया, तो दोनोंमें मूक वैमनस्यकी एक दीवार खड़ी हो जायेगी····

तभी सागरने दस्ताने फेंककर कहा, "हम कुछ बन्दोबस्त करेगा," और फिच्च-फिच्च कीचड़में जमा-जमाकर बूट रखता हुआ आगे चढ़ चला।

कहनेको तो उसने कह दिया, पर बन्दोबस्त वह क्या करेगा रात में ? बादल फिर घिरने लगे, शिवसागर सात मील है तो दूसरे सागर भी तीन-चार मील तो होंगे और क्या जाने कोई बस्ती भी होगी कि नहीं;

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

और जयसागर तो बड़े बीहड़ मैदानके बीचमें है····उसने पढ़ा था कि उस मैदानके बीचमें ही रानी जयमतीको यन्त्रणा दी गयी थी कि वह अपने पति का पता बता दे। पाँच लाख आदमी उसे देखने इकट्ठे हुए थे, और कई दिनों तक रानीको सारी जनताके सामने सताया और अपमानित किया गया था।

एक बात हो सकती है कि पैदल ही शिवसागर चला जाये। पर उस कीचड़में फिच्च-फिच्च सात मील! उसीमें भोर हो जायेगा, फिर तुरत गाड़ीके लिए वापस जाना पड़ेगा····फिर नहीं, वह बेकार है। दूसरी सूरत···· रात गाड़ीमें ही सोया जा सकता है। पर गुरुंग? वह भूखा ही होगा··· कच्ची रसद तो होगी पर बनायेगा कैसे? सागरने तो गहरा नाश्ता किया था, उसके पास बिस्कुट वग़ैरह भी हैं····पर अफ़सरीका बड़ा क़ायदा है कि अपने मातहतको कमसे-कम खाना तो ठीक खिलाये····शायद आस-पास कोई गाँव हो—

कीचड़में कुछ पता न लगता था कि सड़क कितनी है और अग़ल-बग़लका मैदान कितना। पहले तो दो-चार पेड़ भी किनारे-किनारे थे, पर अब वह भी नहीं····दोनों ओर सपाट सूना मैदान था, और दूरके पेड़ भी ऐसे धुँधले हो गये थे कि भ्रम हो, कहीं चश्मेपर नमीकी ही करामात तो नहीं है····अब रास्ता जाननेका एक ही तरीक़ा था, जहाँ कीचड़ कम गहरा हो वही सड़क; इधर-उधर हटते ही पिंडलियाँ तक पानीमें डूब जाती थीं और तब वह फिर धीरे-धीरे पैरसे टटोलकर मध्यमें आ जाता था····

यह क्या है? हाँ, पुल-सा है—यह रेलिङ् है। मगर दो पुल हैं सम-कोण बनाते हुए····क्या दो रास्ते हैं? कौन-सा पकड़ें?

एक कुछ ऊँची ज़मीनकी ओर जाता जान पड़ता था। ऊँचेपर कीचड़ कम होगा, इस बातका ही आकर्षण काफ़ी था; फिर ऊँचाईपर-से शायद कुछ दीख भी जाये। सागर उधर ही को चल पड़ा। पुलके पार ही सड़क एक ऊँची उठी हुई पटरी-सी बन गयी, तनिक आगे इसमें कई मोड़से आये,

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

फिर जैसे धन-खेतोंमें कहीं-कहीं कई-एक छोटे-छोटे खेत एक-साथ पड़नेपर उनकी मेड़ मानो एक-साथ ही कई ओर जाती जान पड़ती है, इसी तरह वह पटरी भी कई ओरको जाती-सी जान पड़ी। सागर मानो एक बिन्दुपर खड़ा है, जहाँसे कई ओर कई रास्ते हैं, प्रत्येकके दोनों ओर जल····मानो अथाह समुद्रमें पटरियाँ बिछा दी गयी हों····

सागरने एक बार चारों ओर नज़र दौड़ायी। शून्य। उसने फिर आँखों की कोरें कसकर झाँककर देखा, बादलोंकी रेखामें एक कुछ अधिक घनी-सी रेखा उसे दीखी····बादल ऐसा समकोण नहीं हो सकता। नहीं, यह इमारत है····सागर उसी ओरको बढ़ने लगा। रोशनी नहीं दीखती, पर शायद भीतर कोई हो—

पर ज्यों-ज्यों वह निकट जाता गया उसकी आशा धुँधली पड़ती गयी। वह असमिया घर नहीं हो सकता—इतने बड़े घर अब कहाँ हैं—फिर यहाँ, जहाँ बाँस और फूसके बासे ही हो सकते हैं, ईंटके घर नहीं—अरे यह तो कोई बड़ी इमारत है—क्या हो सकती है ?

मानो उसके प्रश्नके उत्तरमें ही सहसा आकाशमें बादल कुछ फीका पड़ा और सहसा धुँधला-सा चाँद भी झलक गया। उसके अधूरे प्रकाशमें सागरने देखा—एक बड़ी-सी, ऊपरसे चपटी-सी इमारत—मानो दुमंज़िली बारादरी····बरामदेसे, जिसमें कई-एक महराबें; एकके बीचसे मानो आकाश झाँक दिया····

सागर ठिठककर क्षण-भर उसे देखता रहा। सहसा उसके भीतर कुछ जागा जिसने इमारतको पहचान लिया—यह तो अहोम राजाओंका क्रीड़ा-भवन है—क्या नाम है ?—रंग-महल, नहीं, हवा-महल—नहीं, ठीक याद नहीं आता, पर यह उस बड़े पठारके किनारेपर है जिसमें जय-मती—

एकाएक हवा सनसना उठी। आस-पासके पानीमें जहाँ-तहाँ नरसलके झोंप थे, झुककर फुसफुसा उठे, जैसे राजाके आनेपर भृत्यों-सेवकोंमें एक

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

सिहरन दौड़ जाये····एकाएक यह लक्ष्य करके कि चाँद फिर छिपा जा रहा है, सागरने घूमकर चीन्ह लेना चाहा कि ट्रक किधर कितनी दूर है, पर वह अभी यह भी तय नहीं कर सका था कि कहाँ क्षितिज है जिसके नीचे पठार है और ऊपर आकाश या मेघाली कि चाँद छिप गया, और अगर उसने ख़ूब अच्छी तरह आकार पहचान न रखा होता तो रंग-महल या हवा-महल भी खो जाता····

महलमें छत होगी। वहाँ सूखा होगा। वहाँ आग भी जल सकती है। शायद बिस्तर लाकर सोया भी जा सकता है। ट्रकसे तो यही अच्छा रहेगा—गाड़ीको तो कोई खतरा नहीं—

सागर जल्दी-जल्दी आगे बढ़ने लगा।

रंग-महल बहुत बड़ा हो गया था। उसकी कुरसी ही इतनी ऊँची थी कि असमिया घर उसकी ओट छिप जाये। पक्के फ़र्शपर पैर पड़ते ही सागरने अनुमान किया, तीस-पैंतीस सीढ़ियाँ होंगी····सीढ़ियाँ चढ़कर वह असली ड्योढ़ी तक पहुँचेगा।

ऊपर चढ़ते-चढ़ते हवा चीख़ उठी। कई मेहराबोंसे मानो उसने गुर्राकर कहा, "कौन हो तुम, इतनी रात गये मेरा एकान्त भङ्ग करनेवाले?" विरोधके फूत्कारका यह थपेड़ा इतना सच्चा था कि सागर मानो फुसफुसा ही उठा, "मैं—सागर, आसरा ढूँढ़ता हूँ—रैनबसेरा—"

पोपले मुँहका बूढ़ा जैसे खिखियाकर हँसे, वैसे ही हवा हँस उठी। "ही—ही—ही—खी—खी—खीः। यह हवा-महल है, हवा-महल—अहोम राजाका लीलागार—अहोम राजाका—व्यसनी, विलासी, छहों इन्द्रियोंसे जीवनकी लिसड़ी बोटीसे छहों रसोंको चूसकर उसे झँझोड़कर फेंक देनेवाले नृशंस लीलापिशाचोंकी—यहाँ आसरा—यहाँ बसेरा····ही—ही—ही—खी—खी—खीः।"

सीढ़ियोंकी चोटीसे मेहराबोंके तले खड़े सागरने नीचे और बाहरकी ओर देखा। शून्य, महाशून्य, बादलोंसे, बादलोंमें बसी नमी और ज्वाला-

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

से, प्लवन, वज्र और बिजलीसे भरा हुआ शून्य। क्या उसीकी गुर्राहट हवामें है, या कि नीचे फैले नंगे पठारकी, जिसके चूतड़ोंपर दिन-भर सड़-सड़ पानीके कोड़ोंकी बौछार पड़ती रही है ? उसी पठारका आक्रोश, सिस-कन, रिरियाहट ?

इसी जगह, इसी मेहराबके नीचे खड़े कभी अधनंगे अहोम राजाने अपने गठीले शरीरको दर्पसे अकड़ाकर, सितारकी खूँटीकी तरह उमेठकर, बाँयें हाथके अँगूठेको कमरबन्दमें अटकाकर, सीढ़ियोंपर खड़े क्षत-शरीर राजकुमारोंको देखा होगा, जैसे कोई साँड़ खसिया बैलोंके झुण्डको देखे, फिर दाहिने हाथकी तर्जनीको उठाकर दाहिने भ्रूको तनिक-सा कुंचित करके, संकेतसे आदेश किया होगा कि यन्त्रणाको और कड़ी होने दो ।

लेफ़्टिनेण्ट सागरकी टाँगें मानो शिथिल हो गयीं। वह सीढ़ीपर बैठ गया, पैर उसने नीचेको लटका दिये, पीठ मेहराबके निचले हिस्सेसे टेक दी। उसका शरीर थक गया था दिन-भर स्टीयरिंगपर बैठे-बैठे और पौने दो-सौ मील तक बनी कीचड़की सड़कमें बनी लीकोंपर आँखें जमाये रहनेसे आँखें भी ऐसे चुनचुना रही थीं मानो उनमें बहुत बारीक पिसी हुई रेत डाल दी गयी हो—आँखें बन्द भी वह करना चाहे और बन्द करनेमें क्लेश भी हो—वह आँख खुली रखकर ही किसी तरह दीठको समेट ले, या बन्द करके देखता रह सके, तो····

अहोम राजा चूलिक-फा····राजामें ईश्वरका अंश होता है, ऐसे अन्ध-विश्वास पालनेवाली अहोम जातिके लिए यह मानना स्वाभाविक ही था कि राजकुलका अक्षत-शरीर व्यक्ति ही राजा हो सकता है, जिसके शरीरमें कोई क्षत है, उसमें देवत्वका अंश कैसे रह सकता है ? देवत्व—और क्षुण्ण ? नहीं। ईश्वरत्व अक्षुण्ण ही होता है, और राज-शरीर अक्षत····

अहोम परम्पराके अनुसार कुल-घातके सेतुसे पार होकर चूलिक-फा भी राजसिंहासनपर पहुँचा। लेकिन वह सेतु सदाके लिए खुला रहे, इसके लिए उसने एक अत्यन्त नृशंस उपाय सोचा। अक्षत-शरीर राजकुमार ही राजा

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

हो सकते हैं, अतः सारे अक्षत-शरीर राजकुमार उसके प्रतिस्पर्धी और सम्भाव्य घातक हो सकते हैं। उनके निराकरणका उपाय यह है कि सबका एक-एक कान या छिगुनी कटवा ली जाये—हत्या भी न करनी पड़े, मार्ग-के रोड़े भी हट जायें। लाठी न टूटे साँप भी मरे नहीं पर उसके विषदन्त उखड़ जायें। क्षत-शरीर कनकट या छिगुनी-कटे राजकुमार राजा हो ही नहीं सकेंगे, तब उन्हें राज-घातका लोभ भी न सतायेगा।

चूलिक-फाने सेनापतिको बुलाकर गुप्त आज्ञा दी कि रातमें चुप-चाप राज-कुलके प्रत्येक व्यक्तिके कान (या छिगुनी) काटकर प्रातःकाल दर-बारमें राज-चरणोंमें अर्पित किया जाये।

और प्रातःकाल वहीं, रंग-महलकी सीढ़ियोंपर, उसके चरणोंमें यह वीभत्स उपहार चढ़ाया गया होगा—और उसने उसी दर्प-भरी अवज्ञा में, ओठोंकी तार-सी तनी पतली रेखाको तनिक मोंड़-सी देकर, शब्द किया होगा, 'हूँ' और रक्त-सने थालको पैरसे तनिक-सा ठुकरा दिया होगा!

चूलिक-फा—निष्कण्टक राजा! लेकिन नहीं, यह तीर-सा कैसा साल गया? एक राजकुमार भाग गया—अक्षत।

लेफ़्टिनेण्ट सागर मानो चूलिक-फाके चीत्कारको स्पष्ट सुन सका। अक्षत! भाग गया?

वहाँ सामने—लेफ़्टिनेण्टने फिर आँखोंको कसकर बादलोंकी दरारको भेदनेकी कोशिश की—वहाँ सामने कहीं नगा पर्वत-श्रेणी है। वनवासी वीर नगा जातियोंसे अहोम राजाओंकी कभी नहीं बनी—वे अपने पर्वतोंके नंगे राजा थे, ये अपनी समतल भूमिके कौशेय पहनकर भी अधनंगे रहने-वाले महाराजा, पीढ़ियोंके युद्धके बाद दोनोंने अपनी-अपनी सीमाएँ बाँध ली थीं और कोई किसीसे छेड़-छाड़ नहीं करता था—केवल सीमा-प्रदेश-पर पड़नेवाली नमककी झीलोंके लिए युद्ध होता था क्योंकि नमक दोनोंको चाहिए था। पर अहोम राजद्रोही नगा जातियोंके सरदारके पास आश्रय पाये—असह्य है! असह्य!

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

हवाने साँय-साँय करके दाद दी····असह्य। मानो चूलिक-फाके विवश क्रोधको लम्बी साँस सागरकी देहको छू गयी—यहीं खड़े होकर तो उसने वह साँस खींची होगी—उस मेहराब ही की ईंट-ईंटमें तो उसके सुलगते वायु-कण बसे होंगे ?

लेकिन जायेगा कहाँ ! उसकी वधू तो है ? वह जानेगी उसका पति कहाँ है····उसे जानना होगा ! जयमती····अहोम राज्यकी अद्वितीय सुन्दरी—जनताकी लाडली—होने दो ! चूलिक-फा राजा है, वह शत्रु विहीन निष्कण्टक राज्य करना चाहता है ! जयमतीको पतिका पता देना होगा—उसे पकड़वाना होगा—चूलिक-फा उसका प्राण नहीं चाहता, केवल एक कान चाहता है, या एक छिगुनी—चाहे बाँयें हाथकी भी छिगुनी ! क्यों नहीं बतायेगी जयमती ? वह प्रजा है; प्रजाकी हड्डी-बोटीपर भी राजाका अधिकार है !

बहुत ही छोटे एक क्षणके लिए चाँद झलक गया। सागरने देखा, सामने खुला, आकारहीन, दिशाहीन, मानातीत निरा विस्तार; जिसमें नरसलोंकी सायँ-सायँ, हवाका असंख्य कराहटोंके साथ रोना, उसे घेरे हुए मेहराबोंकी क्रुद्ध साँपोंकी-सी फुँफकार····चाँद फिर छिप गया और पानीकी नयी बौछार के साथ सागरने आँखें बन्द कर लीं····असंख्य सहमी हुई कराहें; और पानी की मार ऐसे जैसे नंगे चूतड़ोंपर स-दिया प्रान्तके लचीले बेतोंकी सड़ाक्-सड़ाक्। स-दिया····अर्थात् शव-दिया; कब किसका शव वहाँ मिलता था याद नहीं आता, पर था शव ज़रूर—किसका शव····

नहीं, जयमतीका नहीं। वह तो—वह तो उन पाँच लाख बेबस देखने वालोंके सामने एक लकड़ीके मंचपर खड़ी है, अपनी ही अस्पृश्य लज्जामें, अभेद्य मौनमें, अटूट संकल्प और दुर्दमनीय स्पर्द्धामें लिपटी हुई; सात दिन की भूखी-प्यासी, घाम और रक्तकी कीचसे लथपथ, लेकिन शेषनागके माथे में ठुकी हुई कीलीकी भाँति अडिग, आकाशको छूनेवाली प्रातःशिखा-सी निष्कम्प····

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

लेकिन यह क्या ? सागर तिलमिलाकर उठ बैठा। मानो अँधेरेमें भुतही-सी दीख पड़नेवाली वह लाखोंकी भीड़ भी काँपकर फिर जड़ हो गयी—जयमतीके गलेसे एक बड़ी तीखी करुण चीख निकलकर भारी वायु-मण्डलको भेद गयी—जैसे किसी थुलथुल कछुएके पेटको मछेरेकी बर्छी···· सागरने बड़े ज़ोरसे मुट्ठियाँ भींच लीं····क्या जयमती टूट गयी ? नहीं, यह नहीं हो सकता; नरसलोंकी तरह बिना रीढ़के गिरती-पड़ती इस लाख जनता के बीच वही तो देवदारु-सी तनी खड़ी है, मानवताकी ज्योतिःशलाका····

सहसा उसके पीछेसे एक दृप्त, रूखी, अवज्ञा-भरी हँसीसे पीतलकी तरह झनझनाते स्वरने कहा, "मैं राजा हूँ!"

सागरने चौंककर मुड़कर देखा—सुनहला रेशमी वस्त्र, रेशमी उत्तरीय, सोनेकी कण्ठी और बड़े-बड़े अनगढ़ पन्नोंकी माला पहने भी अधनंगा एक व्यक्ति उसकी ओर ऐसी दया-भरी अवज्ञासे देख रहा था, जैसे कोई राह किनारेके कृमि-कीटको देखे। उसका सुगठित शरीर, छेनीसे तराशी हुई चिकनी मांस-पेशियाँ, दर्प-स्फीत नासाएँ, तेलसे चमक रही थीं, आँखोंकी कोरमें लाली थी जो अपनी अलग बात कहती थी—मैं मद भी हो सकती हूँ, गर्व भी, विलास-लोलुपता भी, और निरी नृशंस नर-रक्त-पिपासा भी····

सागर टुकुर-टुकुर देखता रह गया। न उठ सका, न हिल सका। वह व्यक्ति फिर बोला, "जयमती ? हुँः, जयमती !" अँगूठे और तर्जनीकी चुटकी बनाकर उसने झटक दी, मानो हाथका मैल कोई मसलकर फेंक दे। बिना क्रियाके भी वाक्य सार्थक होता है, कमसे-कम राजाका वाक्य····

सागरने कहना चाहा, "नृशंस ! राक्षस !" लेकिन उसकी आँखोंकी लालीमें एक बाध्य करनेवाली प्रेरणा थी, सागरने उसकी दृष्टिका अनुसरण करते हुए देखा, जयमती सचमुच लड़खड़ा गयी थी। चीखनेके बाद उसका शरीर ढीला होकर लटक गया था, कोड़ोंकी मार रुक गयी थी, जनता साँस रोके सुन रही थी····

सागरने भी साँस रोक ली। तब मानो स्तब्धतामें उसे अधिक स्पष्ट

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

दीखने लगा, जयमतीके सामने एक नगा बाँका खड़ा था, सिरपर कलगी, गलेमें लकड़ीके मुण्डोंकी माला, मुँहपर रंगकी व्याघ्रोपम रेखाएँ, कमरमें घासकी चटाईकी कौपीन, हाथमें बर्छी। और वह जयमतीसे कुछ कह रहा था।

सागरके पीछे एक दर्प-स्फीत स्वर फिर बोला, "चूलिक-फाके विधान-में हस्तक्षेप करनेवाला यह ढीठ नगा कौन है?" पर सहसा उस नगे व्यक्तिका स्वर सुनायी पड़ने लगा और सब चुप हो गये....

"जयमती, तुम्हारा साहस धन्य है। जनता तुम्हें देवी मानती है। पर और अपमान क्यों सहो? राजाका बल अपार है—कुमारका पता बता दो और मुक्ति पाओ!"

अबकी बार रानी चीख़ी नहीं। शिथिल-शरीर, फिर एक बार कराह-कर रह गयी।

नगा वीर फिर बोला, "चूलिक-फा केवल अपनी रक्षा चाहता है, कुमारके प्राण नहीं। एक कान दे देनेमें क्या है? या छिगुनी? उतना तो कभी खेलमें या मल्ल-युद्धमें भी जा सकता है।"

रानीने कोई उत्तर नहीं दिया।

"चूलिक-फा डरपोक है, डर नृशंस होता है। पर तुम कुमारका पता बताकर अपनी मान-रक्षा और पतिकी प्राण-रक्षा कर सकती हो।"

सागरने पीछे सुना, "हुँः", और मुड़कर देखा, उस व्यक्तिके चेहरेपर एक क्रूर कुटिल मुसकान खेल रही है।

सागरने उद्धत होकर कहा, "हुँः क्या?"

वह व्यक्ति तनकर खड़ा हो गया, थोड़ी देर सागरको ओर देखता रहा, मानो सोच रहा हो, इसे क्या वह उत्तर दे? फिर और भी कुटिल ओठोंके बीचसे बोला, "मैं चूलिक-फा, डरपोक! अभी जानेगा। पर अभी तो मेरे कामकी कह रहा है—"

नगा वीर जयमतीके और निकट जाकर धीरे-धीरे कुछ कहने लगा।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

चूलिक-फाने भौं सिकोड़कर कहा, "क्या फुसफुसा रहा है ?"

सागरने आगे झुककर सुन लिया।

"जयमती, कुमार तो अपने मित्र नगा सरदारके पास सुरक्षित है। चूलिक-फा तो उसे पकड़ ही नहीं सकता, तुम पता बताकर अपनी रक्षा क्यों न करो ? देखो, तुम्हारी कोमल देह—"

आवेशमें सागर खड़ा हो गया, क्योंकि उस कोमल देहमें एक बिजली-सी दौड़ गयी और उसने तनकर, सहसा नगा वीरकी ओर उन्मुख होकर कहा, "कायर, नपुंसक—तुम नगा कैसे हुए ? कुमार तो अमर हैं, कीड़ा चूलिक-फा उन्हें कैसे छुएगा ? मगर क्या लोग कहेंगे, कुमारकी रानी जयमतीने देहकी यन्त्रणासे घबड़ाकर उसका पता बता दिया ? हट जाओ, अपना कलङ्की मुँह मेरे सामनेसे दूर करो।"

जनतामें तीव्र सिहरन दौड़ गयी। नरसल बड़ी जोरसे काँप गये; गँदले पानीमें एक हलचल उठी जिसके लहराते गोल वृत्त फैले कि फैलते ही गये; हवा फुँफकार उठी, बड़े जोरको गड़गड़ाहट हुई। मेघ और काले हो गये—यह निरी रात है कि महानिशा, कि यन्त्रणाकी रात—सातवीं रात, कि नवीं रात ? और जयमती क्या अब बोल भी सकती है, क्या यह उसके दृढ़ संकल्पका मौन है, कि अशक्तताका ? और यह वही भीड़ है कि नयी भीड़, वही नगा वीर, कि दूसरा कोई, कि भीड़में कई नगे बिखरे हैं····

चूलिक-फाने कटु स्वरमें कहा, "फिर आया वह नंगा ?"

नगा वीरने पुकारकर कहा, "जयमती ! रानी जयमती !"

रानी हिली-डुली नहीं।

वीर फिर बोला, "रानी ! मैं उसी नगा सरदारका दूत हूँ, जिसके यहाँ कुमारने शरण ली हैं। मेरी बात सुनो।"

रानीका शरीर काँप गया। वह एकटक आँखोंसे उसे देखने लगी, कुछ बोली नहीं। सकी नहीं।

"तुम कुमारका पता दे दो। सरदार उसकी रक्षा करेंगे। वह सुर-

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

क्षित है।"

रानीकी आँखोंमें कुछ घना हो आया। बड़े कष्टसे उसने कहा, "नीच !" एक बार उसने ओठोंपर जीभ फेरी, कुछ और बोलना चाहा, पर सकी नहीं।

चूलिक-फाने वहींसे आदेश दिया, "पानी दो इसे—बोलने दो !"

किसीने रानीके ओठोंकी ओर पानी बढ़ाया। वह थोड़ी देर मिट्टीके कसोरेकी ओर वितृष्ण दृष्टिसे देखती रही, फिर उसने आँख भरकर नगा युवककी ओर देखा, फिर एक घूँट पी लिया। तभी चूलिक-फाने कहा, "बस एक-एक घूँट, अधिक नहीं !"

रानीने एक बार दृष्टि चारों ओर लाख-लाख जनताकी ओर दौड़ायी।

फिर आँखें नगा युवकपर गड़ाकर बोली, "कुमार सुरक्षित है। और कुमारकी यह लाख-लाख प्रजा—जो उनके लिए आँखें बिछाये है—एक नेताके लिए जिसके पीछे चलकर आततायीका राज्य उलट दे—जो एक आदर्श माँगती है—मैं उसकी आशा तोड़ दूँ—उसे हरा दूँ—कुमारको हरा दूँ।"

वह क्षण-भर चुप हुई। चूलिक-फाने एक बार आँख दौड़ाकर सारी भीड़को देख लिया। उसकी आँख कहीं टिकी नहीं...मानो उस भीड़में उसे टिकने लायक़ कुछ नहीं मिला, जैसे रेंगते कीड़ोंपर दीठ नहीं जमती....

नगाने कहा, "प्रजा तो राजा चूलिक-फाकी है न ?"

रानीने फिर उसे स्थिर दृष्टिसे देखा। फिर धीरे-धीरे कहा, "चूलिक—" और फिर कुछ ऐसे भावसे नाम अधूरा छोड़ दिया कि उसके उच्चारणसे मुँह दूषित हो जायेगा। फिर कहा, "यह प्रजा कुमारकी है—जाकर नगा सरदारसे कहना कि कुमार—" वह फिर रुक गयी। पर तू—तू तो नगा नहीं, तू तो उस—उस गिद्धकी प्रजा है—जा उसके गन्दे पंजेको चाट !

रानीकी आँखें चूलिक-फाकी ओर मुड़ीं पर उसकी दीठने उसे छुआ

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

नहीं, जैसे किसी गिलगिली चीज़की ओर आँखें चढ़ानेमें भी घिन आती है····

नगाने मुसकराकर कहा, "कहाँ है मेरा राजा !"

चूलिक-फाने वहींसे पुकारकर कहा, "मैं यह हूँ—अहोम राज्यका एक-छत्र शासक !"

नगा युवक सहसा उसके पास चला आया ।

सागरने देखा, भीड़का रंग बदल गया है । वैसा ही अन्धकार, वैसा ही अथाह प्रसार, पर उसमें जैसे कहीं व्यवस्था, भीड़में जगह-जगह नगा दर्शक बिखरे, पर बिखरेपनमें भी एक माप····

नगाने पाससे कहा, "मेरे राजा !"

एकाएक बड़े ज़ोरकी गड़गड़ाहट हुई । सागर खड़ा हो गया····उसने आँखें फाड़कर देखा, नगा युवक सहसा बर्छीके सहारे कई-एक सीढ़ियाँ फाँदकर चूलिक-फाके पास पहुँच गया है, बर्छी सीढ़ीकी ईटोंकी दरारमें फँसी रह गयी है, पर नगा चूलिक-फाको धक्केसे गिराकर उसकी छातीपर चढ़ गया है; उधर जनतामें एक बिजली कड़क गयी है, "कुमारकी ज़य !" किसीने फाँदकर मंचपर चढ़कर कोड़ा लिये जल्लादोंको गिरा दिया है, किसीने अपना अंग-वस्त्र जयमतीपर डाला है और कोई उसके बन्धनकी रस्सी टटोल रहा है····

पर चूलिक-फा और नगा····सागर मन्त्र-मुग्ध-सा खड़ा था; उसकी दीठ चूलिक-फापर जमी थी····सहसा उसने देखा, नगा तो निहत्था है, पर नीचे पड़े चूलिक-फाके हाथमें एक चन्द्राकार डाओ है जो वह नगाके कानके पीछे साध रहा है—नगाको ध्यान नहीं है, मगर चूलिक-फाकी आँखोंमें पहचान है कि नगा और कोई नहीं, स्वयं कुमार है; और वह डाओ साध रहा है····

कुमार छातीपर है, पर मर जायेगा····या क्षत भी हो गया तो···· चूलिक-फा ही मर गया तो भी अगर कुमार क्षत हो गया तो—सागर

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

उछला। वह चूलिक-फाका हाथ पकड़ लेगा····डाओ छीन लेगा।

पर वह असावधानीसे उछला था, उसका कीचड़-सना बूट सीढ़ीपर फिसल गया और वह लुढ़कता-पुढ़कता नीचे जा गिरा।

अब ? चूलिक-फाका हाथ सध गया है, डाओपर उसकी पकड़ खड़ी हो गयी है, अब—

लेफ़्टिनेण्ट सागरने वहीं पड़े-पड़े कमरसे रिवाल्वर खींचा और शिस्त लेकर दाग दिया····धाँय !

धुआँ हो गया। हटेगा तो दीखेगा—पर धुआँ हटता क्यों नहीं? आग लग गयी—रंग-महल जल रहा है, लपटें इधर-उधर दौड़ रही हैं। क्या चूलिक-फा जल गया ?—और कुमार—क्या यह कुमारकी जयध्वनि है ? कि जयमतीकी—यह अद्‌भुत, रोमांचकारी गूँज, जिसमें मानो वह डूबा जा रहा है, डूबा जा रहा है—नहीं, उसे सँभलना होगा।

लेफ़्टिनेण्ट सागर सहसा जागकर उठ बैठा। एक बार हक्का-बक्का होकर चारों ओर देखा, फिर उसकी बिखरी चेतना केन्द्रित हो गयी। दूरसे दो ट्रकोंकी दो जोड़ी बत्तियाँ पूरे प्रकाशसे जगमगा रही थीं, और एकसे सर्च-लाइट इधर-उधर भटकती हुई रंग-महलकी सीढ़ियोंको क्षण-क्षण ऐसे चमका देती थी मानो बादलोंसे पृथ्वी तक किसी वज्रदेवताके उतारनेका मार्ग खुल जाता है। दोनों ट्रकोंके हार्न पूरे ज़ोरसे बजाये जा रहे थे।

बौछारसे भीगा हुआ बदन झाड़कर लेफ़्टिनेण्ट सागर उठ खड़ा हुआ। क्या वह रंग-महलकी सीढ़ियोंपर सो गया था ? एक बार आँखें दौड़ाकर उसने मेहराबको देखा, चाँद निकल आया था, मेहराबकी ईंटें दीख रहीं थीं। फिर धीरे-धीरे उतरने लगा।

नीचेसे आवाज़ आयी, "सा'ब, दूसरा गाड़ी आ गया, ढो करके ले जायेगा !"

सागरने मुँह उठाकर सामने देखा, और देखता रह गया। दूर चौरस

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

155.

ताल चमक रहा था, जिसके किनारेपर मन्दिर भागते बादलोंके बीचमें काँपता हुआ, मानो शुभ्र चाँदनीसे ढका हुआ हिंडोला—क्या एक रानीके अभिमानका प्रतीक, जिसने राजाको बचाया, या एक नारीके साहसका, जिसने पुरुषका पथ-प्रदर्शन किया; या कि मानवमात्रकी अदम्य स्वातन्त्र्य-प्रेरणाका अभीत, अजेय, जय-दोल ?

Pertap Singh ... Srinagar ... HS Library

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

भारतीय ज्ञानपीठ
काशी

उद्देश्य

ज्ञानकी विलुप्त, अनुपलब्ध
और अप्रकाशित सामग्रीका
अनुसन्धान और प्रकाशन
तथा लोक-हितकारी
मौलिक साहित्यका निर्माण

•

संस्थापक
साहू शान्तिप्रसाद जैन
अध्यक्षा
श्रीमती रमा जैन

•

मुद्रक : सन्मति मुद्रणालय, दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी ५

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE